# योग की साधना कैसे?

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

आनन्दकन्द अखिलात्मा त्रिजगत्-पावन श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में एक योगाभ्यासी को योग-मार्ग में युक्तता प्राप्त करने के लिये अपने आपको किस प्रकार के नियमों से सम्बद्ध हो करके चलना चाहिये, इसका वर्णन बड़ी हो स्पष्टता से किया है। यदि मनुष्य ठीक प्रकार से भगवद् आज्ञा का पालन करता हुआ अपने आपको इस अभ्यास के साँचे में ढाल लेता है तो वह कल्याण के उच्चतम लक्ष्य को अवश्य-अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। पढ़िये श्री मद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में वर्णित पवित्र उपदेश—

**योगी युञ्जीत सतत्,**
**मात्मानं रहसि स्थितः।**
**एकीकी यतचित्तात्मा,**
**निराशीर परिग्रहः।।**
**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य,**
**स्थिरमासनमात्मनः।**
**नात्युच्छितं नातिनीचं,**
**चैलाजिनकुशोत्तरम्।।**
**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा,**
**यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
**उपविश्यासने युञ्ज्या,**
**द्योगमात्मविशुद्धये।।**
**समं कायशिरोग्रीवं,**
**संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं,**
**स्वंदिशश्चानवलोकयन।**
**प्रशान्तात्मा विगतमी,**
**र्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
**मनः सयम्य मच्चित्तो,**
**युक्त आसीत मत्परः।।**
**युज्जन्नेवं सदात्मानं,**
**योगी नियत मानसः।**
**शान्तिं निर्वाणषरमां,**
**मत्संस्थामधि गच्छति।।**

अर्थात् योगी को चाहिये एकान्त में बैठ करके सब प्रकार की कामनाओं से खाली होकर, अपरिग्रह के भाव को मन में पूर्णरुपेण कायम करके, अपने आपको यत्चित्तात्मा बना करके एवं एकान्त स्थल में जो भी पवित्र स्थान हो वहाँ पर जो न बहुत ऊँचा और न ही बहुत नीचा हो उस पर पवित्र मृगचरम या कुशा आदि के आसन को बिछा करके, अपने मन और इन्द्रियों की क्रियाओं पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करके एवं मन को एकाग्र करके, आत्म-कल्याण के निमित्त अकेला बैठ करके, योगाभ्यास करें। स्थिर भाव से बैठ करके, योगाभ्यास करे। स्थिर भाव से बैठ करके अपनी काया, सिर और ग्रीवा को समत्वेन एक स्तर में रखे। एवं अपनी विविध दिशाओं में न देखकर, स्व नासिका भाग को देखते हुए योगाभ्यास करें। जो योगी इन नियमों का पालन करता हुआ नियमित रूप से अपने अभ्यास को निर्भय होकर अपने मन को नियंत्रण में करके, पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हुआ, मन को संयमित करके, मत्परायण होकर नियमानुवर्तिता के साथ अपने अभ्यास को करता रहेगा वह निर्वाण व परम शान्ति को और मेरी निजी स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लेगा।

उपरोक्त सभी नियमों का पालन वही कर सकता है जो मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए, सिद्धासन, पद्मासन, स्वास्तिकासन या वज्रासन आदि में बैठकर योगाभ्यास करे। क्योंकि उपरोक्त इन सभी आसनों में मेरुदण्ड स्वतः ही सीधा रहता है। अभ्यासी साधक के लिए मेरुदण्ड को सीधा रखना बहुत अनिवार्य रहता है। क्योंकि मेरुदण्ड के अन्दर ही सुषुम्ना की स्थिति है। योगियों के योगाभ्यास का आधार सुषुम्ना नाड़ी ही है।

उपरोक्त आसनों में नियमित अभ्यास से बैठने पर अपने आप ही सुषुम्ना में प्रगति हो जाती है। सुषम्ना नाड़ी के अन्तर्गत सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणों के भावों को लेकर चलने वाली तीन और नाड़ियाँ अव्यक्त रूप से स्थित रहतीं हैं। इनमें से सुषुम्ना के मध्य भाग में ब्रह्मनाड़ी और आस-पास दायें बायें भागों के अन्दर चित्रणी एवं बज्रा नाड़ियाँ प्रगतिशील रहतीं हैं।

साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है कि साधक अपने आपको सत्वस्थ बनाये। तभी वह ब्रह्मनाड़ी के अन्दर अपने मन को प्रवेश करा सकता है, एवं मन के ब्रह्मनाड़ी में स्थित होने पर ही योगी समाधि स्थिति

को प्राप्त कर सकता है। ऊपर जिन आसनों का संकेत किया गया है उनको विधिपूर्वक किन्हीं योगाश्रमों में जाकर यथार्थता के साथ सीख लेना चाहिए। वैसे तो यौगिक व्यायाम सारा ही साधक के लिए श्रेयस्कर है। किन्तु फिर भी जिन आसनों का ऊपर नामांकन किया है वे सब आसन तो योगाभ्यासी को अपने अभ्यास क्रम में लाने ही चाहिये। कदाचित् कोई वृद्ध व्यक्ति है या जिसके लिये इस प्रकार आसनों का अभ्यास कठिन मालूम पड़े तो इसी लेख में आगे चलकर बतलायी हुयी विधि के अनुसार यदि वह शवासन का अभ्यास करें और उसकी बतलायी हुयी विधि के अनुसार सीधा करके अपने मन को एकाग्र करने की चेष्टा करेगा तो अवश्य ही उसको सफलता मिलेगी। यद्यपि उपयोगी नियम की बात तो यही है कि साधकों को किसी यौगिक शिक्षा प्राप्त योगी से अथवा योग-शिक्षण केन्द्रों में पहुँचकर यौगिक शिक्षा सविधि प्राप्त करना चाहिए। तभी वे योगासनों के स्वरूप को भली प्रकार से जान सकेंगे किन्तु सभी को सभी जगह योग शिक्षक मिल जाँय या योग शिक्षण संस्थायें मिल सकें यह प्राय: सम्भव नहीं हो पाता। अत: योगाभ्यासियों के लिये ऊपर इस लेख में जिन आसनों का संकेत किया गया है उनके ठीक-ठीक स्वरूप को भी नीचे शास्त्रोक्त विधि से समझाये देते हैं।

सबसे प्रथम सिद्धासन की उत्कृष्टता है। ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारियों एवं संन्यासियों के लिये तो सिद्धासन परम उपयोगी है ही। वैसे अन्य सभी के लिए भी उपयोगी हो सकता है। पर जो लोग गृहस्थ आश्रमी हैं और जो सन्तानोत्पादन के लिये प्रयत्नशील रहते हैं उनको सिद्धासन का बहुत अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिये। क्योंकि मूत्रेन्द्रिय के निम्न भाग में वीर्य वाहिनी नाड़ी रहती है। सिद्धासन के अधिक अभ्यास करने से वह नाड़ी दब जाया करती है और उस नाड़ी के दब जाने से वीर्य ठीक रूप से प्रवाहित नहीं हो पाता। इसलिये गृहस्थी लोग सिद्धासन की अपेक्षा स्वस्तिक आसन में या आगे बतलायी हुई विधि के अनुसार शवासन में भी योगाभ्यास कर सकते हैं।

उपरोक्त चारों आसनों का हम थोड़ा सा वर्णन यहाँ योगाभ्यासियों के हितार्थ लिख रहे हैं।

## सिद्धासन :—

**योनिस्थान कमघ्रिमूल,**
**घटित कृत्वा दृढं।**
**विन्यसेन्मेढ्रे पादम-**
**थैकमेव हृदये कृत्वा।**
**हनुं सुस्थिरम् स्थाण:।**
**संयमितेन्द्रियोऽचल दृशा,**
**पश्येदुभ्रु वीरंतर, ह्येलन्मोक्षकपाट।**
**भेदजनकंसिद्धासनं प्रोच्यते।**

## अर्थात् :

गुदा और लिंग इन्द्रियों के मध्य भाग में जो (योनि) स्थान अर्थात् सीमनी है, उससे बायें पैर की ऐड़ी कौ मिलाकर और दाहिने पैर की ऐड़ी को उसी स्थान में लिंग नाल के ऊसर जमाकर और हृदय के समीप छाती पर ठोड़ी को लगाकर सब प्रकार से इन्द्रिय द्वारों को रोककर योगी बिल्कुल निश्चल भाव से अपनी दृष्टि को स्थिर रखकर भ्रकुटी के मध्य को देखता रहता है और मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठता है। इस स्थिति को ही मोक्ष-द्वार को खोलने वाला सिद्धासन कहते हैं।

**विधि–** मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठ जाओ। अपने बायें पैर की एड़ी को गुदा द्वार के योनि स्थान सीमनी में रखो और अपने दाहिने पैर की ऐड़ी को लिंगन्द्रिय के ऊपर रखो और निश्चल भाव से जलंघर बन्ध लगाकर भ्रूमध्य को देखते रहो।

अपने दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर बैठकर रखो यही सिद्धासन करने की सरल विधि है।

**समय–** यह आसन जहाँ आसन क्लासों में कराये जायें वहाँ पहले अभ्यासी साधक को अपने शरीर का बलाबल देखकर एक मिनट से शुरु करना चाहिए। श्रेणी में क्रमानुसार अभ्यास आधा-आधा मिनट प्रतिदिन बढ़ाते रहना चाहिये और जहाँ अभ्यास समाधि के लिये किया जाय वहाँ पर पहले थोड़ा-थोड़ा दो-दो मिनट से बढ़ा करके घण्टों तक ले जाया जा सकता है। 'सिद्धासन' का अधिक अभ्यास गृहस्थियों को अधिक लाभप्रद नहीं है किन्तु साधारण अभ्यास में कोई हानि नहीं है।

**लाभ–** इस सिद्धासन के गुण इस प्रकार कहे हैं-

**चतुरशीति पीठेषु,**
**सिद्धमेव सदाश्यसेत।**
**दासप्तति सहस्राणं,**
**नाडीनां मलशोधनम्।**
**आत्मध्यायी मिताहारी,**
**यावद्व द्वाशवत्सरभ्सदा।**
**सिद्धासना श्यामाद्योगी,**
**निषपत्ति माप्नुयात्।।।**

अर्थात् चौरासी आसनों में से सिद्धासन को मुख माना है। यह आसन बहत्तर हजार नाड़ियों के मलों को शुद्ध करता है जो व्यक्ति आत्मध्यान और मिताहारी होकर सदा सिद्धासन का अभ्यास करता है वह अवश्य सिद्धि को पा जाता है। सिद्धासन सभी आसनों के फलों को देने वाला है। इसमें बिना किसी परिश्रम के मूल-बन्ध उड्यान बन्ध और जलन्धर बन्ध तीनों बन्ध स्वाभाविक लग जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है :—

**नासनं सिद्ध सदृशं, न कुंभ: केवलोपम:।**

**न खेचरी समामुद्रा, न नाद सदृशोलय:।**

## अर्थात्

सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है। केवली कुम्भक के समान कुम्भक नहीं है, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं है। और नाद के समान लयता देने वाला कोई साधन नहीं है। अत: मोक्षाभिलाषी साधकों को परमात्मा प्राप्ति के लिए सिद्धासन गृहस्थितयों के लिये विशेष उपयोगी नहीं। यह बात सर्वसाधारण रूप से तो भ्रम ही है किन्तु इतना अवश्य है कि गृहस्थी तीन-तीन, चार-चार, घण्टे नित्य सिद्धासन का अभ्यास करते हैं उनके लिये हो सकता है विशेष लाभदायक न हो क्योंकि योनि स्थान के अन्दर लगाई हुई ऐडी वीर्यवाहिनी नाड़ी को संकुचित करती है और इनके साथ-साथ मूलबन्ध लग जाने के कारण अपान का उर्ध्वाकर्षण होता है। ऐसी स्थिति में ग्रहस्थी लोग स्वस्तीक आसन का अभ्यास कर लें, जिससे कि उनको कभी भी कोई हानि होने की सम्भावना ही न रहे।

**स्वस्तीक आसन–** इस स्वस्तीक आसन का स्वरूप बहुत ही सरल है और सभी के लिये यह पूरा-पूरा लाभदायक रहता है। यथा-

**जानुर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।**

**ऋजुकाय: समासीन: स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते।**

अर्थात् दोनों जानुओं के बीच दोनों पैरों के तलुओं को दबाकर एवं समकाय शिरोग्रीव होकर आनन्दपूर्वक सीधा बैठे। इसी को स्वस्तीक आसन कहते हैं। इसका फल भी प्राय: सिद्धासन के समान ही है। और यह अभ्यासी व अनाभ्यासी सभी के लिये ठीक रहता है।

**विधि–** प्रथम साधारण स्थिति में बैठ जाओ और अपने बायें पैर के पंजे को पकड़ करके पिंडली और जंघा के बीच में अपने दोनों पैरों के पंजों को दबायें और समकाय शिरोग्रीव हो करके दोनों हाथों को सिद्धासन की तरह दबा करके मेरुदण्ड को सीधा करके बैठ जायें व दृढ़ता से अभ्यास करें। स्वस्तीक आसन का फल भी सिद्धासन के समान ही है।

**समय–** सरलतापूर्वक एक मिनट से आरम्भ करना चाहिये व धीरे-धीरे रोजाना दो दो मिनट बढ़ाते हुए घंटों तक ले जाना चाहिए।

**लाभ–** यह स्वस्तीक आसन ध्यानाभ्यास के लिए परम उपयोगी आसन है। इस आसन में बैठने पर सुषुम्ना की गति अपने आप हो जाती है। मन की एकाग्रता स्वत: ही जाग्रत हो जाती है। यह सिद्धासन की अपेक्षा अधिक सरल है। इस आसन को गृहस्थी विरक्त, संन्यासी महात्मा, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ सभी सरलता से कर सकते हैं।

पद्मासन- पद्मासन के दो प्रकार हैं—

१. बद्धपद्मासन २. मुक्तपद्मासन।

दोनों का अभ्यास प्राय: समान ही है। पद्मासन का वर्णन हठयोग प्रदीपिका में निम्नांकित श्लोक में कहा गया है। साधक वर्ग विधि को भली प्रकार से समझ कर के इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं। यह ठीक है कि यह आसन हठयोग से सम्बन्ध रखने वाला है किन्तु सभी के लिये उपादेय है।

**वामोरुपरि दक्षिण हि चरणं**

**संस्थाप्य वामं तथा।**

**दक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना**

**कृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।।**

**अङ्गुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं**

**नासाग्रमवलोकयेत्।**

**एतद् व्याधि विकारविनाशनं-परं**

**पद्मासनं प्रोच्यते।।**

## अर्थात्

सीधे समभाव से बैठकर अपने दाहिने पैर को बाँयी जंघा पर दृढ़ता से रखें। इस प्रकार बायें पैर दाहिनी जंघा पर जमा कर रखें। इस के बाद अपने दोनों हाथों को पीठ पीछे से घुमाकर दाहिने हाथ से बांयी जंघा रखे हुए दाहिने पैर के अंगूठे को व दाहिने हाथ से बांयी जंघा पर रखे हुए बायें पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़े। ठोड़ी छाती में लगाकर (अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर नासिक के अग्रभाग को देखें) इसी का नाम पद्मासन है। वह सभी व्याधियों का नाश करता है।

**समय–** आधे मिनट से शनै:-शनै: दो मिनट तक और अभ्यास बढ़ जाने पर परमार्थाभिलाषी व्यक्ति कई-कई घण्टों का अभ्यास बढ़ाते रहते हैं।

**लाभ–** प्राणायाम के अभ्यासियों के लिये यह परम श्रेयस्कर रहता है। कुण्डलनी को गति देता है। मन की एकाग्रता एक भ्रूमध्य ध्यान के लिए परमोत्कृष्ट है। सभी व्याधियों को हटाकर आरोग्य प्रदान करता है,

**बज्रासन–** इसके अतिरिक्त चौथा आसन योगाभ्यासियों के लिए परम उपादेय रहता है। यद्यपि बज्रासन कष्टसाध्य है, तथापि हठ योगियों के लिए उपादेय है। हठ योगी लोग इसी आसन के अन्दर कुण्डलनी शक्ति के जागरण के लिए शक्तिचालिनी मुद्रा के लिए प्रयोग करते हैं। परिणाम अत्यन्त शुभ होता है। सर्वसाधारण के लिए तो यह आसन जल्दी अभ्यास में नहीं आ सकेगा। कोई नहीं उम्र का अभ्यास यदि अभ्यास करेगा तो परिपक्व अभ्यास परम लाभप्रद रहेगा।

**गुल्फौ च वृषणस्याधो**

**व्युत्क्रमेण समाहितौ।**

**पादांङ्गुष्ठे कराभ्यां च**

**घृत्वा पृष्ठ देशत:।।**

**जालन्धरं समासाद्य**

**नासाग्रम-वलोकयेत।।**

**भद्रासनं भवेदेतत्**

**सर्वव्याधिविनाशकम्।।**

**विधि–** अपने पैरों की दोनों एड़ियों को अण्डकोषों के नीचे उलटकर रखें इसके बाद अपने हाथों को पीठ की तरफ से घुमाकर दोनों पैरों को उलटकर आये हुए अँगूठे को पकड़े (दाँये पैर के अँगूठे को बाँये हाथ से व बायें पैर के अँगूठे को दाहिने हाथ से पकड़े) पश्चात् जालन्धर बन्ध लगाकर (अपनी ठोड़ी को छाती में लगाकर) नासाग्रभाग को देखें। इसी का नाम भद्रासन है।

**समय–** यह आसन कुछ कठिन है। पहले अभ्यास करने वालों के लिये तो असम्भव ही सा है। फिर भी अभ्यास से सभी कुछ सम्भव है। अत: इस आसन का अभ्यास करने वाले साधकों को यह पहले १० सैकण्ड या शरीर के बलाबल को देखकर २० सैकण्ड से आरम्भ करें। उसके बाद पाँच-पाँच सैकण्ड प्रतिदिन बढ़ाते हुए घण्टों तक ले जा सकते हैं। किन्तु व्यायाम का दृष्टि से अधिक से अधिक दो मिनट प्रतिदिन का अभ्यास ही ठीक रहेगा।

**फल–** यह आसन शरीर में दृढ़ता देता है। सम्भवत: इसी कारण से सभी प्रकार की व्याधियों का नाश करने वाला है। यह कुन्डलिनी शक्ति को जाग्रत करता है।

**शवासन–** इसके बाद आता है। शवासन विश्रांतिकर है, इस आसन में साधक को बिल्कुल सीधा लेट जाना चाहिये इधर-उधर करवट नहीं बदलना चाहिये। ऐसा करने से स्वभावत: ही सुषुम्ना नाड़ी की गति हो जाया करती है। सुषुम्ना की गति होना ही मनुष्य के लिए परम श्रेयस्कर रहता है। क्योंकि इड़ा और पिंगला का प्रवाह मन को जगत में प्रवाहित करता है। कदाचित् शवासन का अभ्यासी इड़ा और पिंगला के प्रवाह को दबाकर सुषुम्ना को प्रवाहित रखता है तो उसका अभ्यास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और मन को अन्तत: शाश्वत शान्ति की ओर ले जाया करता है।

इस लेख में ऊपर हमने जिन आसनों का संकेत किया है वे सभी इड़ा-पिंगला के प्रवाह को दबाकर सुषुम्ना को जाग्रत करने वाले हैं। मेरुदण्ड को सीधा रखना ही, सुषुम्ना को प्रवाहित करने का एक सरल साधन है। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने योगा के आहार-विहार के विषय में दो श्लोकों में कुछ संकेत किया है जिसको बुद्धिमान साधक भली प्रकार से पढ़ करके अपने उपयोग में अवश्य अवश्य लायें। वे दोनों श्लोक इस प्रकार हैं—

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति**

**न चैकान्तमनश्नत:।**

**न चाति स्वप्नशीलस्य**

**जाग्रतो नैव चार्जुन।।**

**युक्ताहारविहारस्य**

**युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**

**युक्तस्वप्नावबोधस्य**

**योगो भवति दु:खहा।।**

अर्थात् जो लोग अति मात्रा का भोजन करते हैं उनको योग सिद्ध नहीं हो पाता और जो लोग बिल्कुल भी नहीं खाते वह भी उचित नहीं है। और जो लोग आलस्य को प्रधान बनाकर अधिक सोते रहते हैं उनकी भी योग सिद्ध नहीं होता। क्योंकि उनका आलस्य में कालयापन होता है। योगाभ्यास के लिए आलसी लोग समय निकाल नहीं नहीं पाते। और जो लोग समय व्यर्थ के वार्तालाप में गवांते रहते हैं उनकी भी योग सिद्ध नहीं हो पाता। पर जो ठीक समय पर उचित आहार करते हैं और विहार आदि के अन्दर भी अपने आपको संयमित रखते हैं एवं अपनी नियमानुवर्तिता के पक्के रहते हैं उनको पूर्णरूपेण योग दु:खों का विनाश होता है। ठीक इसी प्रकार का संकेत भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में किया है। एक साधक का जीवन किस प्रकार का होना चाहिये और उसको अपने रहन-सहन एवं निवास स्थान को कैसा रखना चाहिये इसका पूरा-पूरा दिग्दर्शन निम्नाँकित दो श्लोकों के अन्दर बहुत ही स्पष्टीकरण के साथ कर दिया है—

**विविक्तसेवी लघ्वाशी**

**यतवाक्कायमानस:।**

**ध्यान योगपरो नित्यं**

**वैराग्यं समुपाश्रित:।।**

**अहंकारं बलं दर्पं**

**कामं क्रोधं परिग्रहम्।।**

**विमुच्य निर्मम: शान्तोब्रह्म-**

**भूयाय कल्पते।।**

अर्थात् जो साधक किसी पवित्र एकान्त स्थान में हल्का आहार करते हुए, अपने शरीर मन और वाणी पर पूर्ण नियन्त्रण रख करके वैराग्य को धारण कर नित्य नियमानुसार योग ध्यान करते हैं और अहंकार, बल का अभिमान, दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह अर्थात् लोलुपता को छोड़ देते हैं वे लोग ममता रहित शान्त भाव को प्राप्त होकर ब्रह्मत्व की ओर बढ़ जाते हैं, साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है कि वह उपरोक्त दो श्लोकों के अन्दर बतलाये हुए नियमों का पूर्णरूपेण पालन करें। अपनी वाणी, शरीर एवं मन पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखें। जो साधक इस प्रकार अपनी नियमावली का पालन करते हैं वह अवश्य ही बहुत जल्दी उत्तम निष्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं योगी को विविक्तसेवी, लघ्वाशी तो होना ही चाहिए

किन्तु उसके साथ-साथ आहार शुद्धि की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है क्योंकि यह एक नियम की बात है कि—

**आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः।**

**सत्व शुद्धौध्रुवास्मृतिः।।**

अर्थात् योगी साधक को चाहिये कि अपने आहार विहार को बिल्कुल शुद्ध रखे। आहार शुद्ध हो जाने पर ही सतोगुण बढ़ता है और सतोगुण के बढ़ जाने पर स्मृति उपस्थित हो जाती है। और स्मृत्युप्रस्थान के बाद—

**''चित्तमना कुलम् समाधियत''**

अर्थात् आहार के शुद्ध हो जाने के बाद सतोगुण शुद्ध हो जाता है और सत्व शुद्धि के बाद अपने आप ही चित्त समाधिस्थ हो जाता है जिससे योगी के अन्दर सर्वज्ञातित्व भाव स्वतः ही आ जाता है। और सत्व शुद्धि और वृद्धि की पहचान है—

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्-**

**प्रकाश उपजायते।**

**ज्ञानं यदा तदा विद्याद्धि-**

**वृद्धं सत्वमित्युत।।**

अर्थात् जब योगी के रोम कूपों से प्रकाश की लहरें निकलने जग जायें तक समझ लेना चाहिए कि योगी सत्वस्थ हो चुका है। इस लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि योगी प्रथम अपने आहार को शुद्ध करें। भगवान श्रीकृष्ण ने सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रधान तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है। उनमें से सतोगुण की वृद्धि करने वाला और सात्विक लोगों को पसन्द आने वाला सात्विक आहार ही योगी के लिये परम उपादेय है। सात्विक आहार के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

**आयुःसत्त्वबलारोग्य-**

**सुखप्रीतिविवर्धनाः।।**

**रस्याःरस्निग्धाः स्थिरा हृद्या-**

**आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।**

अर्थात् जो आहार आयु के बढ़ाने वाले हैं और सतोगुण को बढ़ाने वाले हैं बल और आरोग्यता को देने वाले हैं जिन आहारों के खाने से मन में सुख और प्रीति बढ़े ऐसे आहार सतोगुण प्रधान व्यक्ति को प्यारे हुआ करते हैं, और यह ही आहार मनुष्य के मन में सतोगुण की वृद्धि करते हैं। इस के अतिरिक्त जिन आहारों में कटुता है और जिन आहारों में बहुत अधिक नमक खाया जाता है मिर्च मसाले आदि तीक्ष्ण आहार होते हैं और जो तीक्ष्ण और रुक्ष्ण होते हैं ऐसे आहारों को रजोगुण प्रधान व्यक्ति खाते हैं और यह सब आहार रजोगुण की वृद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त सड़े-गले जो पहले दिन के बनाये गये हैं ऐसे आहार तामस व्यक्ति को प्रिय होते हैं। और तमोगुण बढ़ाते हैं। इसलिये योगाभ्यास करने वाले साधक को चाहिए कि वह शुद्ध एवं सात्विक आहारों का सेवन करें। और इसके साथ-साथ जैसा कि इसी लेख में ऊपर बताया जा चुका है साधक मिताहारी रहे। सुपच व हल्का भोजन करे जिससे शरीर में उस अन्न का परिपाक जल्दी हो जाये। उपरोक्त सभी बातों का पालन करते हुए योगाभ्यासी साधक को अपनी कुछ नियमावली बनाकर रखनी चाहिये। जो लोग बेकार आलस्य प्रमाद के अन्दर जीवन व्यतीत किया करते हैं वे अपनी जिन्दगी के अमूल्य समय को व्यर्थ गँवाया करते हैं।

## गृहस्थी साधक की दिनचर्या

एक गृहस्थी योगी साधक को अपनी नियमावली इस प्रकार रखनी चाहिये— बाल, वृद्ध, युवा सभी को प्रातःकाल पौने चार बजे उठ जाना चाहिए जिससे ३-४५ से ४-३० बजे तक शौच स्नान एवं दन्त-मंजन आदि से निवृत्त हो जावें।

साधक को चाहिये यदि उसके शरीर में कोष्ठबद्धता है तो प्रातःकाल उठते ही एक नीबू निचोड़ करके वह गर्म जल पीकर शौच जाया करें। तद्उपरान्त शौचादि से निवृत्त होकर हस्त प्रक्षालन के लिए तीन बार बायें हाथ को मिट्टी लगाकर अलहदा धोवें और उस के बाद १२ बार मिट्टी लगाकर दोनों हाथों का प्रक्षालन करें। जहाँ तक हो सके जलपात्र लेकर के खुले मैदान में शौच के लिए जायें।

यदि जलपात्र लेकर के शौचादि नित्यकर्म के लिए जाते हैं तो बायें हाथ को तीन बार मिट्टी लगा करके अलहदा धोवें ओर उसके बाद चार बार दोनों हाथों को मिट्टी लगाकर जल से धोवें व तदोपरान्त अपने पात्र को मिट्टी से माँज लें। उसके बाद फिर चार बार दोनों हाथों को मिट्टी से मलकर धोवें व एक बार फिर जल ले जाने वाले पात्र मांज लें। उस के बाद फिर चार बार हाथ मांजकर फिर एक बार उस पात्र को मांज लें। इस प्रकार यह शुद्धि का ढंग गृहस्थ एवं विरक्त सभी साधकों के लिए अवश्य ही पालनीय है। इस प्रकार हस्तप्रक्षालन की यह शुद्धि कर लेने के बाद साधक को चाहिए कि वह दन्तधावन करें।

दन्तधावन के लिये बबूल की दांतुन, मौलसिरी की दांतुन यह उपलब्ध न हो तो अमलतास व झब्बा की दांतुन करें। साधक को चाहिए कि वह बबूल की या मोलसिरी की दाँतुन को अपने दांतों से चबाकर उसका ब्रुश बनाकर दोनों ओर दांतों पर घिसे एवं पानी से कुल्ला करके दांतों व दाढ़ों की धो डाले। और दांतुन में जो ब्रुश बनाया है उसे दांत से काटकर फैक डाले। उसके बाद दोबारा उस का ब्रुश बनाकर दाढ़ व दांतों को घिसे। इसी प्रकार तीसरी बार फिर दांतों को चबाये एवं ब्रुश बना करके दाढ़ दांतों की घिसाई करे फिर ब्रुश को दांतों से काट दे। एवं मुख को जल से धो डालें।

इस प्रकार प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह तीन बार दांतुन का ब्रुश बनाकर दांतों को अवश्य ही अवश्य घिसे। तीन बार ब्रुश बनाने का नियम तो हर साधक को रखना रखना चाहिये। तीन बार के अतिरिक्त चार या छः बार भी ब्रुश बना दिया जाये तो वह उत्तम ही है। फिर दांतुन को फाड़कर जिह्वा को साफ करना चाहिए क्योंकि रात्रि भर में सोने से जिह्वा पर

मल जमा हो जाया करता है उसको दांतुन को फाढ़कर साफ कर मैल को उतार देना चाहिये इसी को दन्त धौति कहे हैं जो कि साधक के लिये आवश्यक पालनीय नियमों के अन्दर यह भी पालनीय नियम है जिसका पालन प्रत्येक साधक को करना चाहिए।

उसके बाद प्रत्येक साधक को ठण्डे जल से स्नान करना चाहिये। शरीर को आदत ठण्डे जल से स्नान करने की ही डालनी चाहिये। कदाचित् कोई ऐसा न करे तो साधारण उष्ण जल से भी स्नान किया जा सकता है।

उसके बाद खद्दरे के अँगोछे से जो आमतौर पर खादी भण्डार से मिला करता है उससे दृढ़ता के साथ शरीर के सर्वागों को पोंछ करे घुले हुए साफ वस्त्र धारण करना चाहिये। इतना कर लेने के बाद प्रत्येक ग्रहस्थ साधक को अपने कुटुम्ब के सभी सदस्यों सहित नैत्यिक व्यायाम योगासन करने का नियम रखना चाहिए।

योगासनों में **'जीवनतत्व साधन'** जो श्री सिद्धगुफा सवांई की अपनी देन है वह नौ क्रियाएँ अवश्य ही करनी चाहिए उनका क्रम प्रत्येक साधक की दिनचर्या में इस प्रकार रखना चाहिये।

सर्वोत्तान-३-३ बार, स्कन्ध चालन पीछे की तरफ से आगे को १० मिनट और आगे की ओर पीछे की ओर १० मिनट, अर्थात् स्कन्ध चालन २० मिनट प्रत्येक बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को करना चाहिये। उसके बाद पग चालन १० मिनट, ५ मिनट के बाद दूसरा पैर बदलना चाहिये। उसके बाद नाभि चालन ३० मिनट, उसके बाद जानुप्रसार तीन-तीन बार दोनों ओर करके, बाल मचलन १ मिनट तक करना चाहिए उसके बाद बच्चे का ध्यान २ मिनट तक, तदुपरान्त नाड़ी संचालन २० मिनट तक करना चाहिये,

उसके बाद तीन-तीन बार हाथ पैरों को झटकना चाहिये इसी का नाम उत्प्रेक्षण है। इन नौ क्रियाओं को इस प्रकार विधिपूर्वक कर लेने के बाद जीवनतत्व की साधना पूरी हो जाती है। इस प्रकार यह जीवन तत्वसाधन प्रत्येक गृहस्थ एवं विरक्तों के लिये नैत्यिक व्यायाम के रूप में कर लेने पर शारीरिक स्वास्थ्य अवश्य उत्तम बन जायेगा। इसके बाद प्रत्येक साधक को चाहिये कि कम से कम एक घण्टा अपने गुरु मन्त्र का बतायी गयी विधि के अनुसार जाप करना चाहिये। और कम से कम आधा घण्टा ध्यानाभ्यास हर साधक को करना चाहिये। यह हमने कम से कम नियमावली बनायी है। इस नियमावली के अनुसार प्रात: पौने चार बजे से ४-१५ तक आधा घण्टे में साधक शौच, स्नान, दन्त धावन इत्यादि से निबट जायेगा। उसके बाद सवा चार बजे से ५-३० तक जीवन तत्व योगासन आदि नैत्यिक व्यायाम हो जायेगा। उसके बाद ५-३० से ६-३० तक मन्त्रजप, ६-३० से ६-३० तक मन्त्रजप, ६-३० से ७-१५ बजे तक ध्यानाभ्यास, उसके बाद साधक को अपनी परिस्थिति के अनुसार थोड़ा शुद्ध हवा में भ्रमण करना चाहिए। भ्रमण के बाद घर आकर अपना प्रात:कालीन भोजन दुग्धपान आदि कर लेना चाहिये। इसके बाद अपने नैत्यिक नौकरी, व्यापार बिजनिस आदि कार्यों में लग जाना चाहिये साधक को चाहिये कि अपना आहार शुद्ध सात्विक एवं हल्का रखे। एवं पत्ती के सागों का भोजन अधिक करें। विशेषत: जिन लोगों को अधिक मात्रा में कोष्ठबद्धता रहती है उन को चाहिये लौकी, एवं पपीता की सब्जी, मेथी पालक एवं बथुए का साग अधिक मात्रा में सेवन करें। और यथासम्भव मौसमी का रस लेते रहना चाहिये। शाम को लगभग ५ बजे आधा सेर गर्म दूध शनै: शनै: थोड़ा गर्म करके पीना चाहिये। इस प्रकार का खानपान ठीक रखने से शारीरिक व मानस दोनों स्वास्थ्य बन जायेंगे। इसके अतिरिक्त सायंकालीन भोजन कर लेने के बाद थोड़ी देर तक भ्रमण का नियम रखना चाहिए। भोजन करने के १ घण्टा उपरान्त अर्थात् ९ से १० बजे तक नित्य गुरुमन्त्र का जाप करें। और ठीक पौने दस बजे योग-ध्यान करते हुए सो जाये। ध्यानविधी वही रखनी चाहिये जो दीक्षाकाल में समझायी गयी है। यदि सोने से १ घण्टा पहले १ घण्टा मन्त्रजाप और आधा घण्टा शवासन से सीधा लेट करके साधक दीक्षा में बतलायी गयी विधि के अनुसार सोता है तो उसका ध्यान योगनिद्रा के रूप में बदल जायेगा।

इस लेख के अन्दर हमने सर्वधारण के लिये पालनीय नियमावली लिखा दी है। उपरोक्त विधि के अनुसार साधु व गृहस्थी जो भी इन नियमों का पालन करेंगे ये सभी नियम लक्ष्यप्राप्ति में उनके परम सहायक होंगे। इस लेख का शीर्षक योग साधना को समझाने के लिए ही रखा गया है। आशा है सभी साधक वृन्द इस लेख को पढ़कर इसका सदुपयोग अपनी नैत्यिक जीवन चर्या में नियमावली के रूप में बना लेंगे। जिससे सभी का भला हो और सभी लोग कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर हो सकें।

# योगस्थ कुरु कर्माणि

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

युगावतार जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण महाराज ने श्री मद्भगवद् गीता के दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक में अर्जुन- धनञ्जय को निमित्त बनाकर संसार के प्राणियों को यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है—

**योगस्थ: कुरु कर्माणि-**
**संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।।**
**सिद्धय सिद्धयो: समोभूत्वा,**
**समत्वं योग उच्यते।।**

अर्थात्- हे अर्जुन तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मों को कर। समत्त्व ही योग कहलाता है।

भगवान ने इससे पूर्व के अपने कथन में अर्जुन को अपना यह अभिमत बहुत ही दृढ़ता और स्पष्टता से प्रकट करते हुए इस तथ्य को बता ही दिया था कि यह संसार कर्मभूमि है, कर्मों के सम्पादन के लिए ही मनुष्य को यहाँ आना पड़ता है और अनिवार्य रूप से उसे यहाँ कर्म करने को विवश होना ही पड़ता है। लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा का बीज अनेक जन्मों के कर्मसंस्कारों से फलस्वरूप ही उसे स्थायी विरासत के रूप में मिला करता है, और विरासत में मिला यह कर्म बीज ही उसे सुख-दु:ख मिश्रित कर्म करने-कराने के लिए प्रेरित किया करता है।

इसीलिए ४८ वें श्लोक में दृढ़ता से भगवान ने अपना यह मत व्यक्त कर दिया है कि तू यहाँ कर्म करने का ही अधिकार लेकर आया है। इसी अधिकार क्षेत्र तक अपनी समूची गति विधियों को तू सीमित रख। कर्म का फल क्या होगा? यह सोचना तेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात होगी, तू यहाँ केवल कर्मफल भोगने का अधिकार लेकर आया है कर्मफल पाने का नहीं। फल तो अनिवार्यत: मिलेगा ही, इसलिए तेरी दृष्टि फल की ओर नहीं किन्तु कर्त्तव्य पालन की ओर होना चाहिए। जब फल प्राप्ति अनिवार्य है तो फल उसका मिलना है- या नहीं इसकी चिन्ता में तू अपनी शक्ति का व्यर्थ ही अयव्यय क्यों कर रहा है। फल को चिन्ता और चेष्टा में यदि तू अधिक आसक्त रहेगा तो कर्म के सुयोग्यता पूर्वक सम्पादन की सभी प्रक्रिया गलत हो जाने की सम्भावना अधिक रह सकती है।

इसीलिए भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक में दृढ़ता से इस सत्य की उद्घोषणा कर दी कि—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते**
**मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्म फल हेतु र्भूर्मा-ते**
**संगोऽस्त्व कर्मणि।।**

कर्म-फल का हेतु बनना क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा किये हुए शास्त्र विहित कर्मों में और उनके फल में ममता आसक्ति वासना आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफल का हेतु बनना है। क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकार के कर्मों में और उनके फल में आसक्त होता है उसी को उन कर्मों का फल मिलता है। कर्मों में और उनके फल में ममता आसक्ति और कामना का त्याग कर देने वालों को नहीं।

यही कारण है कि भगवान ने कर्मफल का हेतु न बनने का परामर्श अर्जुन को दिया ४८ वें श्लोक में कहा गया है कि तुझे न कर्म करने में आसक्त होना चाहिए और न कर्मों का साग करना चाहिए। वे क्ता रहे हैं कि—

**योगस्थ: कुरु कर्माणि**
**संगं त्यक्त्वा धनंजय।**

अर्थात् तू आसक्ति का सर्वथा त्याग करके सफलता असफलता में समान बुद्धि रख के कर्म करने में लग जा। कर्म में हानि-लाभ जय पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि सब द्वन्द्वों से दूर हटकर लग जा। यही समत्व योग है। ऐसे योगनिष्ठ कर्म योगी ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया करते हैं। क्योंकि आसक्ति रहित समत्वं बुद्धि से किये उनके कर्म उन्हें जन्म-मरण के बन्धन में नहीं डाल पाते।

**संगं त्यक्त्वा—** चित्त की समता कैसे रखी जाय? भगवान कहते है कि संग अर्थात् फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो। इससे कर्म में चित्त की समता बनी रहेगी। फल की आसक्ति ही आदमी के चित्त को डांवाडोल करती है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'शुरू किया हुआ कर्म यदि सफल रहा तो उससे बहुत प्रसन्न नहीं होना चाहिए। बहुत संतोष नहीं मानना चाहिए। यदि प्रारंभ किया हुआ वह कर्म असफल रहा तो उससे दु:खी या खिन्न भी नहीं होना चाहिए। कर्म का आचरण करते हुए सफलता मिली तो अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो भी अच्छा ही है। लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो वह अपूर्ण रहा ऐसा समझें।

क्योंकि यदि सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दिया जाता है तो उसे परिपूर्ण ही समझो। इस तरह कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनों के प्रति जिसकी चित्तवृत्ति सम रहती है, श्रेष्ठजन उसकी योगस्थिति की सराहना करते रहते हैं।'

**सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा—** कर्म सफल हो या निष्फल, दोनों परिणामों के बारे में, जैसा कि ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है, वैसी वृत्ति रखनी चाहिए। फल की आसक्ति छोड़ने के लिए यानी अपेक्षित फल मिले या न मिले, उसके बारे में वृत्ति तटस्थ उठते हैं कि कर्म की सफलता के लिए कोई योजना बनायी जाय या नहीं? कर्म अच्छा ही होना चाहिए, इस का आग्रह रखने की जरूरत है या नहीं अथवा कर्म चाहे जैसा करने से चलेगा?

मनुष्य फल की आकांक्षा से ही अच्छा कर्म करने में प्रवृत्त होता है। किसान को पता चले कि इस साल बरसात नहीं होने वाली है, तो शायद वह खेत जोत ने आदि के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए यह अच्छा के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए यह अच्छा ही है कि कर्म सफल होगा या नहीं, इसका पता पहले से नहीं नहीं चलता। अनुभव यह है कि कर्म-फल की इच्छा से ही आदमी कर्म करने पा उसे अच्छा करने में प्रवृत्त होता है। भगवान सिर्फ फल की आसक्ति छोड़ने के लिए कहते हैं, फल छोड़ने के लिए नहीं। फल की यह आसक्ति दुःखदायी है, इसीलिए उसे छोड़ना है। लेकिन आसक्ति से यदि आनन्द मिलता हो तो उसे रखने में कोई आपत्ति नहीं। मगर प्रायः यहाँ हमेशा यही अनुभव आता है कि आसक्ति हमेशा दुःख देती है। इसीलिए कर्म ढंग से करना ही तो उसका अपेक्षित फल अच्छी तरह मिले, इसकी योजना अव्यवस्थित रूप से पहले से बना लेनी चाहिए। अपेक्षित फल को प्राप्ति का आग्रह भी रहना चाहिए। लेकिन साथ ही अनाग्रह भी रहना चाहिए। इसका क्रम यह है कि पहले आग्रह और बाद में अनाग्रह। दोनों साथ-साथ एक के पीछे एक चलते रहें। आग्रह से योजना बनेगी, कर्म से दक्षता आयेगी, जागृति रहेगी लापरवाही नहीं होगी तो अनाग्रह से फल प्राप्ति के विषय में तटस्थता रहने से दुःख का अनुभव भी नहीं होगा। कर्म करने में अखण्ड शांति रहेगी। इस विषय में कुछ विद्वान तीन बातें ध्यान में रखने के लिए कहते हैं, (१) जो कर्म हम करते हैं, उसका फल मिलना चाहिए ऐसा मन में आग्रह रख कर बड़ी कुशलता से कर्म करना चाहिए। लेकिन (२) अपेक्षित फल न मिले तो मन की समता ढलने नहीं देनी चाहिए और (३) अपेक्षित फल मिलने पर उससे अपने को अलग कर लेना चाहिए यानी हम कर्म के कर्ता नहीं, अकर्ता है समझते हुप्र कर्म-फल ईश्वर को अर्पित कर अलग हो जाना चाहिए।

(४) अन्त में भगवान संक्षेप में योग की व्याख्या करते हैं, समत्वं योग उच्यते। फल के विषय में चित्त को सम रखना, अनासक्त तटस्थ रखना, अहंकार रहित रखना ही योग है। शास्त्र इसी वृत्ति को 'योग' कहता है।

# मन की अपार शक्ति

**-श्रीमती सरिता भारद्वाज एम.ए.बी.एड. सांख्य योगाचार्य**

बिखरा हुआ मन दीन-हीन दूसरे की कृपा का भिखारी बना रहता है और वही मन यदि एक जगह योग-ध्यान-विधि से इकट्ठा कर लिया जाय तो उसके अन्दर बड़ी-बड़ी बिलक्षण ताकतें दिखाई पड़ने लगती है जिन्हें हम लोग संकल्प-शक्ति () अतीन्द्रिय-शक्ति तथा ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ आदि-आदि नाम दे दिया करते हैं। यह बात इसी तरह है कि जिस तरह वर्षा का पानी तालाबों झरनों और नदियों में बहकर व्यर्थ नष्ट हो जाता है उससे अधिक भला नहीं हो पाना, यदि उसी जल को किसी बड़े जलाशय में इकट्ठा कर लिया जाय तो उस पर बड़े-बड़े बांध बनाकर उससे प्रकाश को पैदा करने वाली विद्युत और मरुत प्रदेश को हरा-भरा करने वाली विशाल नहरों का निर्माण करके उसी जल को अनन्त शक्ति के स्रोत के रूप में बदला जा सकता है। इस क्रिया के लिए जिस प्रकार इंजिनियर्स की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार मन को इकट्ठा कर उन पर बाँध बना कर उससे अलौकिक कार्य करने के लिए सर्व समर्थ श्री सद्गुरु की आवश्यकता है।

मन एक यन्त्र की तरह कार्य करता है। वह जिसके साथ हो जाता है उसकी पूरी-पूरी सहायता करता है और उसका सारा कार्य आनन-फानन में संपादित कर दिया करता है। यदि वह नेत्रेन्द्रिय का साथी बनता है तो उसके सामने आने वाले सुन्दर रूपों में विशेष रस और चाव उत्पन्न करके उसे हमेशा रूप का गुलाम बना देता है। यदि वह रसना-इन्द्रिय का साथी बन जाता है तो कोई भी पदार्थ उपस्थित होने पर उसके अन्दर स्वाद की सृष्टि (रचना) कर देता है और लोलुप बना देता है कि व्यक्ति अपना अहित जानकर भी शराब-कबाब खाद्य-अखाद्य खाने से बाज

# अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्ण वशित्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भूतजय/की साधना करने वाला योगी प्रकृति के प्रत्येक विश्लेषण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी का परिणाम होता है कि भूत जय प्राप्त कर लेने के बाद योगी को अणिता-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशत्व वशित्व एवं यत्र कामाबशायित्व आदि-आदि ऐश्वर्य उसकी उसको स्वत: ही प्राप्त हो जाते हैं। पढ़िये, भगवान पतन्जलिदेव का आदेश—

**ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव: कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।**

इसके साथ ही पढ़िए इस सूत्र पर त्र्यास भाष्य:—

**तत्राणिमा भवत्यणु:। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ्गुल्ग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् प्राकाम्य-मिच्छानभिघात:। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं भूतभौतिकं वशो भवत्यवश्मचान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानाभीष्ठे यंत्र कामावशायित्वँ सत्यसंकल्पता यथा सँकल्पस्तथा: भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि, पदार्थविपर्यासं करोति कस्मात् अन्यम्य यत्र कामावसायिन पूर्व सिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि कायसम्पद्धक्ष्यमाणा। तद्धमनिभिंघातश्च पृथ्वी मूल्यान निरुणद्धि योगिन: शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीतिं नाप: स्तिग्धा: क्लेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायु: प्रणामी वहति अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावतकाय: सिद्धानामप्य दृश्यो भवति।**

**अणिमा—** सिद्धि का अर्थ है- योगी का अणु जैसा बन जाना। अर्थात् स्थूलकाय योगी भूतजय संयम के फलस्वरूप अपने आपको अणु के रुप में परिवर्तित कर लेता है, इसी का नाम अणिमा सिद्धि है।

**लघिमा—** लघिमा सिद्धि का अर्थ है स्थूल काय से योगी अपने आपको हल्के से हल्का बना ले। जिस प्रकार ब्रज में तृणावर्त राक्षस के आने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने आपको इतना हल्का बना लिया कि तृणावर्त राक्षस उनकी रुई के मानिन्द उड़ाकर आकाश में ले गया और आकाश में ही उनके द्वन्द्व-युद्ध के आघात से मर कर जमीन पर गिर पड़ा। श्री बालकृष्ण उसकी छाती पर आनन्द से खेल रहे थे। यह सब उनकी स्वत: सिद्धि लघिमा सिद्धि का प्रभाव था।

**महिमा—** महिमा सिद्धि का अर्थ है योगी का अपने आपको महान बना लेना। देखने वाले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इनका यह महान रूप कैसे कहाँ से हुआ। इस विषय में श्री श्रीकृष्ण भगवान का अर्जुन को अपना महान विश्वरूप दिखलाना एक उत्कष्ट उदाहरण है, जिसको देखकर अर्जुन जैसा वीर भी भयभीत हो गया था और उसने हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक कहा था—

**स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,**
**जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।**
**रक्षाँसि भीतानि दिशोद्रवन्ति,**
**सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध सङ्घा:**

अर्थात् हे प्रभो! यह उचित हैं कि तुम्हारी कीर्ति को सुन करके जंगल हर्षित होता है, और दिग्पाल लोग डरे हुए दिशा-प्रदिशाओं को दौड़ रहे हैं। सभी सिद्ध लोग आपको नमस्कार कर रहे हैं यह था उनकी महान महिमा का प्रभाव।

**प्राप्ति—** प्राप्ति-सिद्धि का अर्थ है— योगी अपनी इच्छापूर्वक चन्द्रमा को भी स्पर्श करने की ताकत रखता है।

**प्राकाम्य—** प्राकाम्य लिद्धि का अर्थ है— इच्छानभिघात अर्थात् योगी जैसा संकल्प करे वैसा ही हो जाय, इसी का नाम इच्छानभिघात है अर्थात् योगी चाहे जिस प्रकार जल में डूब करके जल में से निकल आया करता है, उसी प्रकार जमीन में से भी निकल आये।

**वशीत्व—** वशीत्व सिद्धि-अर्थात् योगी का पंचमहाभूतों में और महाभूतों के कार्यों में पूर्ण अधिकार होना। यही वशीत्व सिद्धि कहलाती है। योगी सबको अपने वश में रखता है किन्तु वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता, यही इस सिद्धि का वशीत्व गण होता है।

**ईशित्रीत्व—** ईशित्रीत्व-सिद्धि का अर्थ है- पंच महाभूतों और महाभूतों के कार्यों पर योगी पूर्ण अधिकार रखता है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं बिनाश की भी ताकत होता ईशित्रीत्व सिद्धि कहलाती है।

**यत्र कामावशायित्व—** अर्थात् सत्य संकल्प होना। योगी जो-जो भी संकल्प करे उनका पूर्ण होना ही यत्र कामावकायित्व कहलाता है, किन्तु ऐसा होने पर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के सृष्टि

नियम के विरुद्ध योगी कोई संकल्प नहीं करता। अत: ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध योगी कोई अपना संकल्प नहीं किया करता।

यह योगियों का अष्ट विध ऐश्वर्य है जिसको प्राप्त करके योगी ज्ञान तृप्तात्मा बन जाता है। उसका प्रकृति पर पूर्ण वशीकार हो जाता है। ऊपर के सूत्र में कहा गया है—

**'कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च'**

काया की सम्पत्ति क्या है? इसका वर्णन इसके अगले सूत्र में भगवान पतञ्जलिदेव बतलायेंगे किन्तु पंच महाभूतों के कार्य योगी के रास्ते में रूकावट नहीं डालते। वह यदृच्छा गति से जो भी कुछ चाहे कर सकता है। जैसे- योगी के मन में विचार आया कि मैं पृथ्वी में प्रवेश करूँ तो पृथ्वी उसकी इस इच्छा को रोक नहीं सकती। पृथ्वी के कठोरतम भाग पाषाण आदि में भी योगी निर्विघ्न प्रवेश कर सकता हे। जल का गीलापन उसको गीलापन नहीं ला सकता। अग्नि की उष्णता उसको जला नहीं सकती। परिणामी वायु उसको उड़ा नहीं सकती, अनावरण आकाश भी उसके आवृत होने में बाधा नहीं डालता। अनावृत्त आकाश में भी वह अपने रूप को ढँक सकता है। वह सिद्धों के लिए भी अदृष्य हो जाता है, इसके आगे के जिस सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव योगी की काय संपदन् का वर्णन करते है वह इस प्रकार है :—

**रुपलावण्यवलवज्र संहननत्वाति काय संपद।**

इसी सूत्र पर व्यास जी भाष्य करते हैं :—

**दर्शनीय: कान्तिान् अथिशयोवलो वज्र संहननश्चेति।**

अर्थात् सुन्दरतम अतिशय क्रांतिमान होगा अतिशय बल का धारण करना, वज्र के समान अभेद्य होना यह योगी के शरीर का ऐश्वर्य है। भूतजयी योगी इस महान ऐश्वर्य को प्राप्त करके सब प्रकार से बलशाली एवं कृत-कृत्य हो जाया करते हैं। किन्तु आवश्यकता है इस बात की कि योगी को संयम-बल पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ हो। जिनकी आधार भित्ति सुदृढ़ है एवं अपने धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास में सुदृढ़ता के साथ परिपक्व अभ्यास वाले बने चले आयें हों तो उनका संयम बल भी परिपक्व हो जाता है और वे इस विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया करते हैं।

जल के हिलने से उसमें पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी हिलने लगता हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुष ऐसा मान लेता है कि चन्द्रमा हिल रहा है। इसी प्रकार कर्तृत्व भोग एवं अन्य कर्मों को जो मन से सम्बन्धित हैं, भ्रमवश आत्मा से सम्बद्ध कर लिया जाता है।

— श्री रामकृष्ण परमहंस

# सिद्ध सिद्धान्त एवं सिद्ध-दर्शन का उपाय

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्ध सिद्धांत क्या है? और साधक सिद्धों के दर्शन किस प्रकार कर सकता है यह एक विशेष विचारणीय विषय है। वैसे तो सिद्ध सिद्धांतों से हमारे सभी यौगिक ग्रन्थ परिपूरित हैं। **''हठयोग प्रदीपिका'' ''शिव संहिता'' ''गोरक्षपद्धति''** यौगिक उपनिषदें सभी सिद्ध-सिद्धांतों से परिपूरित हैं फिर भी आम सभी के हितार्थ हम थोड़े से शब्दों में **'सिद्ध सिद्धांत'** एवं **'सिद्ध'** शब्द की परिभाषा लिख देना ही ठीक समझते हैं 'सिद्ध' शब्द का यथार्थ अर्थ है 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् सर्वथा सक्त: सैव सिद्ध:' अर्थात् जो किसी कार्य को कर दे, किये हुए को बिगाड़ दे फिर ज्यों का त्यों बिगड़े हुए को ठीक कर दे यही सर्वसमर्थता का ठीक प्रमाण है। ऐसे ही सर्वशक्तिसम्पन्न कर्तुम् अकर्तुम् सर्वथा सक्त: समर्थ वाले महापुरुषों को सिद्ध कहते हैं। ये लोग सब प्रकार से आत्मदर्शी होते हैं एवं सर्वशक्तियों से सम्पन्न, भूतमयी, प्रकृति पर हुकूमत करने वाले दिव्य देहधारी महापुरुष होते हैं। योग हमें बतलाता है-

**परमाणु परम महत्वान्तोऽस्य वशीकारा:।**

अर्थात् परमाणु से लेकर परम महत्तत्त्व या मूल प्रकृति पर्यन्त पुरा अधिकार है। उसका चित अभ्यास करते-करते उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि फिर उसको अभ्यास की जरूरत नहीं रहती। पढ़िए व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

**सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाणवन्तं स्थितिपदं लभत इति, स्थूले निविशमानस्य परनमहत्वन्तं स्थितिपदं चित्तस्य, एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघात: स परो वशीकार: तवशीकारात्परिपूर्ण योगिनश्चित्तन पुनरभ्यासकृतं परिकमा-पेक्षत इति।।**

अर्थात् जिस समय योगी सूक्ष्म में संयम करना आरम्भ करता है वह परमाणु तक देख लेता है और जिस समय स्थूल में संयम करता है तो उस समय मूल प्रकृत पर्यन्त महत्तत्व तक पूर्णाधिकार हो जाता है। सूक्ष्म में अभ्यास करने वाले तथा स्थूल में अभ्यास करने वाला योगी जिस समय स्थिति को प्राप्त कर लेता है वह उसका सरमवशीकार कहलाता है अर्थात् उसका चित्त इतना संयमित हो जाता है कि उसको पुन: अभ्यास से संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती केवल संकल्पमात्र से उसका संयम सिद्ध रहता है। उसका चित्त बहुत ही निर्मल होता है जहाँ वह संयम करता है वहीं स्थिति को पा जाया करता है। ऐसे योगी समाधि एवं अपने संयम के बल से परम वशीकार वाले होते हैं। उनके अन्दर कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत अनायास ही बनी रहा करती है और स्थान-स्थान पर जैसा कि योगदर्शन के विभूतिपाद के अन्तर्गत विभूतियों का वर्णन किया गया है, उन सभी विभूतियों को योगी अपने संयम के बल से प्राप्त कर लिया करते हैं।

ये ही लोग कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति वाले कहलाते हैं। तुलसीकृत रामायण में कागभुसुण्डि उपख्यान मिलता है। उसमें आदि महासिद्ध उपख्यान मिलता है। उसमें आदि महासिद्ध भगवान शिव के कर्तुम् अकर्तुम अन्यथा कर्तुम् की शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। गुरुदेव से अभिमान पूर्वक पीठ दे करके अपना भजन करने वाले कागभुसुण्डि को भगवान सदाशिव ने ८४ लाख योनि भोगने का श्राप दिया और जिस समय उसके गुरुदेव ब्राह्मण ने अपने शिष्य पर दया करने के विचार से भगवान शिव की स्तुति की, जिसको प्राय: सभी लोग जानते हैं उस स्तुति को सुन करके भगवान शिव प्रसन्न हुए और ब्राह्मण की वर माँगने की आज्ञा प्रदान किये उस ब्राह्मण ने प्रथम तो अपने हित के लिए उनकी भक्ति को माँगा और दूसरे वर के अन्दर अपने शिष्य पर अनुग्रह करने के लिए वरदारन माँगा। जिसके फलस्वरूप भगवान शिव ने अपने श्राप को बहुत ही सूक्ष्म में निपटा दिया तथा साथ ही साथ यह कह दिया कि मेरे मुख निकला वचन बिल्कुल मिथ्या तो नहीं होगा। उन योनियों में उेस जाना ही होगा और जन्म लेना पड़ेगा, किन्तु यह जब-जब जहाँ-जहाँ जिस योनि में जन्म लेगा इसको कोई दुख नहीं होगा किन्तु वे बराबर उस योनि से, भोग भोगकर जल्द निकल जायेगा। इसी का नाम है कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'। ठीक शब्दों अन्दर यही सिद्ध शब्द की यथार्थ परिभाषा है।

संसार में एक नियम चलता है और वह यह कि हमारा चित्त प्रज्ञा प्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। इसलिए संसार में जन्म लेन वाले व्यक्ति सभी एकमत के हों यह सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि **'मुण्डे मूण्डे मतिर्भिन्ना'** का सिद्धांत सभी जगह चालू रहता है। इसी कारण से सारे संसार में नाना प्रकार के सिद्धांतवादी लोग हैं, किन्तु वे सभी अपनी-अपनी मति के अनुसार सिद्धांतों की स्थापना करते हैं। किन्तु इनके

ये सिद्धांत, सिद्धांत नहीं हैं क्योंकि वे सब अपने आप में सिद्ध नहीं हैं। ऋतम्भराप्रज्ञ प्राप्त योगी ही सिद्धांतों की रचना कर पाते हैं। सिद्धों के सिद्धांत ही वस्तुत: मूलसिद्धांत हैं क्योंकि उनके वक्ता आप्तपुरुष सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न होते हैं। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है—

**यस्या श्रद्धेयार्थो वक्ता न द्रष्टानुमितार्थ: स आगम: प्लवते, मूलवक्तरि तु दुष्टनुमितार्थे निर्विप्लव: स्यात्।।**

अर्थात् जिस सिद्धांत को कहने वाले वक्ता अश्रद्धेय है एवं मनमाने सिद्धांतों की कल्पना अपने मन से करते हैं उनके सिद्धांत सर्वथा गिर जाया करते हैं, मूल वक्ता आदि महासिद्ध जो सदा प्रकर्ष गति से ही सिद्ध हैं उनके सी सिद्धांत प्लवन रहित (चिरस्थायी) होते हैं अर्थात् उनके मुख से निकली वाणियाँ की भी असत्य नहीं होती हैं इन्हीं की वाणियों को सिद्ध सिद्धांत कहा जाता है, यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनियों के मौलिक सिद्धांत, सिद्धांत हैं क्योंकि उनका सभी प्रकार से पर्यवेक्षण कर लेने के बाद उनमें किसी प्रकार की कमी दिखाई नहीं पड़ती। आजकल के समय में लोग अनेकों प्रकार की भविष्यवाणियाँ करते हैं उनमें से कोई कोई ही सत्य निकल पाती है अन्यथा प्राय: अधिकांशत: गलत निकलती हैं किन्तु हमारे ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त ऋषि मुनियों ने जो-जो भी भविष्यवाणियाँ कीं वे सभी प्लकन रहित हैं। भविष्यपुराण को उठाकर पढ़िए उसमें कलिकाल के वर्णन के अन्दर निर्बीजा पृथ्वी, निरौषधी, रस:, निचामहत्वंगता: भार्यामन्त्री विरोधिनी पररता:, पुत्रा:षिर्तुदूषिका: आदि-आदि बातें लिखी हैं जो वाणियाँ ज्यों की त्यों सत्य हो रही हैं। क्योंकि इन वाणियों के वक्ता श्रद्धेय थे, सिद्ध थे एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न थे। सिद्धांत शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका अन्तिम निष्कर्ष प्लवन रहित स्थिर शुद्ध सत्य हो, वही सिद्धांत कहलाता है। अब यही बात है कि ऐसे सिद्ध सिद्धांत के वक्ता, महापुरुषों के दर्शन को मनुष्य कैसे प्राप्त करें। और किस प्रकार से उनके मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में घटित कर सकें इसके शास्त्रोक्त दो विशेष उपाय हैं। जिनके द्वारा मनुष्य सिद्ध दर्शन का अधिकारी बन जाता है। पहला उपाय है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्दर पुण्य संवर्धन करे और अपनी मानसपवित्रता को बढ़ाता चला जाये। पुण्य संवर्धन के लिए यज्ञदान तप कर्म, पावनानी मनीषिणा अनेक प्रकार के यज्ञ करना, दान करना, तथा तप करना मनुष्य के अन्त:करण को पवित्र करने वाले कर्म हैं। इन सब कर्मों के करने से पुण्य का संग्रह बढ़ता चला जाता है। मनुष्य उत्कृष्ट तप तथा साधना करता हुआ यज्ञ, दान आदि। करता हुआ अपने को उत्कृष्ट पुण्य के खजाने से भर लेता है। पुण्य सम्बर्द्धन करता चला जाय तथा बढ़े हुए पुण्य की रक्षा भी करता चला जाय। एक मनुष्य बड़े-बड़े दान भी करता है, बड़े-बड़े यज्ञ करता है तथा तपश्चर्यायें करता है उनके फलस्वरूप उसका पुण्य बढ़ता तो चला जायगा किन्तु उसमें यदि क्रोध है, अहंकार है और साथ के साथ ईर्ष्यालु स्वभाव होने से परिपीड़न के भाव बने रहते हैं तो वह अपनी बढ़ी हुई पुण्य की निधि को साथ-साथ नष्ट भी करता चला जाता है। ऐसी स्थिति में वह सिद्ध-दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता इस विषय में हमारा शास्त्रीय लेख है-

**इदृसन्तु भवेद् यद् तत् तत् भुक्त्वा ज्ञानी, पुनरभवेत् पश्चात् पुण्ये न लभते सिद्धेंनस: संगतीय तत: सिद्धस्य कृपया योगी भवति, नान्यथा ततो नस्यती संसारो अयम् नान्यथा शिव भाषितम्।।**

अर्थात् ज्ञानी आत्मा भी अपनी क्लिष्टा क्लिष्ट वृत्तियों के उत्थान पतनात्मक विविध प्रकार के भोगों को भोगता हुआ जब उसकी पुण्य निधि बढ़ जाती है उसके फलस्वरूप सिद्धों की संगति को प्राप्त करती है, और सिद्ध संगति को प्राप्त करने के बाद वह उनकी अनुकम्पा को पाकर योगी बन जाता है तब यह संसार का बन्धन टूटता है। यहाँ स्वयं भगवान शिव ने कहा। इसलिए निष्काम कर्म योग करता हुआ साधक विविध प्रकार के पुण्य कर्म करके अपनी पूण्य निधि को बढ़ा लेता है। वह सिद्ध संगति का अधिकारी बन जाता है। उसके बाद दूसरा उपाय है— स्वाध्याय।

**स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग:।।**

सा.पा. ४४।।

**देवा:, ऋषय:, सिद्धाश्चस्वधयायशील दशनिंगच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्तइति।।** ४४ ।।

अर्थात् स्वाध्याय के बल से साधक इष्टदेव की कृपा का लाभ करता है और उसी स्वाध्याय के प्रभाव से मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग, देव लोग और सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कर्मों का करना हर व्यक्ति के लिए सुलभ साधन नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान आदि अर्थाभाव से सभी लोग नहीं कर सकते किन्तु स्वाध्याय आदि आदि कोई दृढ़ लगन से करना चाहता है तो वह कर भी सकता है अनुभवी सन्तों का अनुभव है जो पवित्र भागीरथी के तट पर बैठकर के अपने इष्ट के मन्त्रों का जाप करते रहते हैं। उन्हीं के स्त्रोत्र आदि का पाठ करते रहते हैं। उन्हीं के स्त्रोत्र आदि का पाठ करते रहते हैं उसका परिणाम यह निकलता है कि वे लोग सिद्धों के दर्शन को पा जाया करते हैं एवं सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार सिद्धों का दर्शन अमोघ होता है उसके फलस्वरूप साधक उनकी कृपा को पाकर अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। उनके शक्तिपात से उसे साधक को सहज ही समाधि प्राप्त हो जाती है अत: इस लेख के विषय को समझ करके एवं सिद्ध की परिभाषा एवं सिद्धान्त की परिभाषा जानकर के अपने आपको अध्यात्म मार्ग में बढ़ाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने पर उस अनुग्रह को पाकर अपने आपको कृत-कृत्य बना लेगा।

# श्रद्धा मयो अयम् पुरुषः

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

जगदात्मा योग- योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवदगीता में जीवात्मा पुरुष का विवेचन करते हुए बताया है कि अयं पुरुषः श्रद्धामयः अर्थात् यह पुरुष जिसके गुण धर्म की चर्चा मैंने की है श्रद्धामय है और यह श्रद्धा भी उसके सत्वानुरूप यानी उसके अपने अन्तःकरण के अनुरूप हुआ करती है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हुआ करता है।

अपने सखा अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान सभी सांसारिक जनों को बता रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वरूप जब श्रद्धा के अनुरूप ही हुआ करता हैं तब श्रद्धा को श्रेष्ठतम् स्थिति में रखने का सदा प्रयत्न प्रत्येक को करना चाहिए।

श्रद्धा के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा है—

**त्रिविधा भवति श्रद्धा**
**देहिना सा स्वभावजा।**
**सात्विकी राजसी चैव**
**तामसी चेत्ति तां श्रणु।।**

— गीता १७/२

अर्थात्- हे अर्जुन सुन! देहधारी पुरुषों की श्रद्धा स्वभावजा यानी जन्मजात होती है, और सात्विक राजस तथा तामस इन तीन प्रकार के भेदों में बैठी हुई रहा करती है। यह प्रयत्न से पैदा नहीं होती है इसीलिए इसे स्वभावजा कहा गया है। यह तर्क अथवा मस्तिष्क का नहीं किन्तु हृदय का आश्रय लेकर रहती है, इसीलिए जिस पर हमारी श्रद्धा होती है, उसका कारण हम बता नहीं पाते हैं। किसी महापुरुष अथवा पदार्थ के प्रति हम श्रद्धावान कैसे बन गये? क्यों बन गये? इस प्रकार के किसी प्रश्न का उत्तर हम दे नहीं पाते। क्योंकि किसी प्रश्न का युक्तियुक्त उत्तर दे पाना मस्तिष्क अथवा बुद्धि का विषय रहता है 'हृदय का नहीं। हृदय-तो' 'गिरा अनयन नयन बिन वानी' जैसी स्थिति में आकर मौन का अवलम्बन ही ग्रहण कर लेता है। क्यों किसी के प्रति कोई श्रद्धावान् बन गया, केवल एक ही उत्तर इस का उसके समीपवर्ती वातावरण से हमें सुनने और समझने को मिल पाता है और वह यह कि 'ऊधौ मनमाने की बात'। मन ने जिसे स्वीकार कर लिया— कर लिया। क्यों कर लिया, इस प्रश्न का उत्तर मौन— साधना के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

यह ठीक होते हुए भी विवेकशील जिज्ञासु यह जानने की लालसा रखते ही हैं कि अन्ततोगत्वा जन्म के साथ ही यह स्वभावजा श्रद्धा आ कहां से गई? मन या हृदय में आ बैठने से पूर्व उसका उद्भय कहाँ था?

इस जिज्ञासा का युक्ति युक्त समाधान यही हो सकता है कि मनुष्य के अन्तःकरण में अवस्थित चित्त एक ऐसा मूल्यवान उपकरण है जिस पर अनन्त जीवन के अनन्त संस्कार अपना सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप लिये पड़े रहते हैं। और जन्म जन्मान्तर के यही संस्कार-उसकी अपनी वृत्ति या स्वभाव का निर्माण करते हैं जिसके आधार पर मनुष्य अपना वर्तमान तथा भावी जीवन या देह प्राप्त कर पाता है। उसके इस वर्तमान जीवन की वृत्ति या स्वभाव में ही श्रद्धा का बीज समाया हुआ होता है। श्रद्धा के सात्विक, राजस और तामस भेद मनुष्य के पिछले सात्विक, राजस और तामस संस्कार-समूह के कारण ही हो जाते हैं। किस मनुष्य की श्रद्धा कैसी है इस का परिचय उसके आचरण तथा व्यवहार से चलता रहता है। भगवान ने इसके परिचय की कसौटी की रूप-रेखा का निरूपण इस प्रकार करते हैं-

**यजन्ते सात्विका देवान्**
**यक्ष रक्षांसि राजसाः।**
**प्रेतान् भूतगणां श्चान्ये**
**यजन्ते तामसः जनाः।।**

— गीता १७/४

अर्थात् सात्विक श्रद्धा वाले पुरुष देवताओं की उपासना करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष-राक्षसों की उपासना करते हैं और तामसी जन भूतप्रेतों की उपासना करते हैं।

कौन- व्यक्ति किस वर्ग पर अपनी श्रद्धा को ठहराता है, यह विचार कर या अन्वेषण कर के हम उसकी स्वभाव जन्य श्रद्धा का परिचय प्राप्त कर सकते हैं और स्वयं अपने हृदय में समायी हुई श्रद्धा का परिचय भी इसी कसौटी पर कसकर लगा सकते हैं।

और चूँकि प्रयत्न करने का अधिकार मनुष्य को जन्मजात रूप में मिला हुआ है अतः यह उसके अपने प्रयत्नों पर निर्भर रहता है कि वह अपनी तामसी श्रद्धा को राजसी में और राजसी श्रद्धा को सात्विकी श्रद्धा में परिवर्तित कर डालें। आवश्यकता रहती है साधना की शास्त्रानुसार आचरण करते रहने पर— गुरुमन्त्र का तथा सदगुरु के चरणों का आश्रय लेने पर, प्रणव का नियम पूर्वक जप करते रहने से, ध्यान योग की गहराई में उतरने का यम नियम के परिपालन के साथ अभ्यास करते रहने से तामसी

और राजसी श्रद्धा के स्तर को सात्विकी श्रद्धा के स्तर पर ले आ सकता है।

योग साधकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि सात्विकी श्रद्धा ही उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हो पाती है राजसी और तामसी नहीं।

योग दर्शन के समाधि पाद के बीसवें सूत्र में— प्रज्ञा पूर्वक समाधि भूमिका तक पहुँचाने में भगवान पतञ्जलि देव ने 'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक: इतरेषाम्' में- जिस श्रद्धा का उल्लेख किया है, वह सात्विकी श्रद्धा ही है। राजसी और तामसी श्रद्धा से कभी भी श्रेय की सिद्धि नहीं हो सकती। शास्त्रों में जिस श्रद्धा को माता के समान रक्षा करने वाली कहा गया है- वह भी सात्विक श्रद्धा ही होती है। तामसी और राजसी श्रद्धा से संरक्षिका शक्ति का उदय नहीं हो सकता। मन की वह सात्विक प्रसन्नता- जिसके आ जाने पर सभी क्लेशों का अन्त हो जाता है सात्विक श्रद्धा के आ जाने पर ही प्राप्त हो पाती है- और यह सात्विक श्रद्धा तथा मन: प्रसादत्वं दोनों ही से बिना किसी अवरोध के आगे बढ़ने की शक्ति, सामर्थ्य और वीर्य की प्राप्ति होती है। अत: हर एक योग साधक का यह परम पावन कर्त्तव्य है कि श्रद्धा का जो सूक्ष्म बीज पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप उसकी हृदय-भूमि में पड़ा हुआ है और यदि वह राजसिक और तामसिक दिशा में जा रहा है तो उसे सात्विक दिशा की और मोड़ देने का सदैव प्रयत्न करता रहे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने यह कहकर कि 'श्रद्धावान् लगते ज्ञानम्, — सात्विक श्रद्धा की महत्ता ही प्रदर्शित की है इसलिए ऐसी महत्वशाली सात्विक श्रद्धा के संवर्द्धन के प्रयासों को करने में कभी भी उपेक्षा और असावधानी नहीं बरतना चाहिए।

श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से ही कर्म का सम्यक् रूपेण सम्पादन हो पाता है। मनुष्य जब सम्यक् रूप से कर्म का निर्वाह कर लेता है तभी वह मोक्ष का अधिकारी बन पाता है।

भगवान् वेद ने इसीलिए स्पष्टता से घोषित किया है कि ऋते ज्ञानान्नमुक्ति: अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो पाती। और इस ज्ञान प्राप्ति का मुख्य आधार बनती है श्रद्धा। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने इसीलिए सिद्धान्त के रूप में यह दृढ़ता से उद्घोषित किया है कि श्रद्धावान लभते ज्ञानम्। गुरुचरणों बैठिए, चाहे शास्त्रों की शरण में जाइए, कल्याण तभी सम्भव हो पाता है जब मनुष्य श्रद्धावान् बनकर अपने को समर्पित करने का संकल्प ले लेता है।

यदि और अधिक गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि श्रद्धा और ज्ञान का सम्बन्ध जितना गहरा जितना अटूट होता है उतना वह अधिक कल्याणकर हो जाता है। ज्ञान और विवेक से रहित श्रद्धा अन्ध श्रद्धा का रूप ले लेती है, जो अर्थ की नहीं किन्तु अनेक तरह से अनर्थ का कारण बन जाती है।

विवेक से हीन श्रद्धा राजसिक और तामसिक परिधि में घूमती रहती हैं, सात्विक धरातल को यह छू नहीं पाती है। अत: आवश्यक है कि सात्विक श्रद्धा को स्थायी रखने के लिये ज्ञान विवेक की भूमिका को भी साधक को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि सात्विक मन में ही सात्विक श्रद्धा उदय होती हैं, और सात्विक मन का संवर्द्धन होता है, सात्विक आहार से। अत: सात्विक आहार का व्रत साधकों को लेना भी जरूरी ही रहता है। मन सात्विक रहने पर विवेक सम्मत सात्विक श्रद्धा उनकी चिरसंगिनी बनी रहकर माता के समान सदा सदैव उनकी रक्षा करती रहेगी।

# यौगिक षट्कर्म

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

यौगिक साधना में यौगिक षट कर्म अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हमारे ऋषि मुनियों ने लोक कल्याण की भावना रखते हुए घट-शुद्धि पर विशेष बल दिया है। घट शुद्धि का अर्थ होता है- शरीर शुद्धि। जिस शरीर अथवा देह में आत्मा निवास करता है, उसे 'घट' शब्द से भी बोधित किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र का प्राम्भिक सूत्र है :—

**शरीर माद्यम् खलु धर्म साधनम्।**

अर्थात् धर्म साधना का एक मात्र आधार होता है यह मानव शरीर। यदि यह शरीर मलों से दूषित होकर रोगी और अस्वस्थ रहता है या धर्म-निर्वाह साधना या क्रिया सहजतया कर पाना सम्भव ही नहीं हो पाता। इसीलिए शरीर अथवा घट की शुद्ध के लिए उसे नीरोग और स्वस्थ रखने के लिए यौगिक षट कर्म पद्धति को नियमित रूप से अमल में लाना आवश्यक बतलाया गया है। इसके अमल में लाने से बुद्धि जो आत्मा का निकटतम मूल्यवान प्रकृतिस्थ उपकरण है रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर सतत् सतोगुण में रमण करने लगती है और पुरुष यानी आत्मा की ही दीप्ति से दीप्त होकर उसे कैवल्य लाभ करा देती है। भगवान पतञ्जलि देव ने योग-दर्शन के कैवल्य पाद में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है :—

**सत्त्व पुरुषयो: शुद्धि**
**साम्ये कैवल्यमिति।**

अर्थात् प्रकृति (बुद्धि) एवं पुरुष की शुद्धि बराबर हो जाती है तो मनुष्य कैवल्य लाभ कर लेता है। साधक को तब किसी अन्य साधन को करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह शुद्धि ही उसकी ज्ञान दीप्ति का कारण बन जाती है।

हठयोग के आचार्यों भी अपने ग्रन्थों में घट-शोधनार्थ षट कर्मों का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी मान्यता है कि कफवात आदि के दोषों से दूषित यह अस्थि चर्ममय देह जब तक दोष रहित अथवा शुद्ध नहीं हो जाता तब तक योग क्रियाओं का अनुष्ठान उचित रूपेण नहीं हो सकता। प्रत्येक इसके प्रति कूल देखने में आता है कि घट शुद्धि के बिना मन माने ढंग से जो लोग योग साधनायें करने लगते हैं वे कई प्रकार के विकारों और दोषों से तो ग्रसित हो ही जाते हैं, साथ ही योग विद्या के अपयश के भी कारण बन जाते हैं। अत: यह आवश्यक है कि पहले घट शुद्धि कर के तब योग-साधना की अन्य भूमिकाओं में अग्रसर होना चाहिए। योगाङ्गों के अनुसरण का पूरा लाभ इसी विधि से उठाया जा सकता है।

घट शुद्धि के लिए यौगिक षटकर्मों की विधि भी किसी अनुभवी और वेत्ता गुरु की शरण में ही जाकर सीखनी चाहिए। अनुभवहीन और ना जानकार से सुनी हुई बातों के आधार पर की गई क्रिया विधि लाभ के स्थान पर गहरी हानि पहुँचाने का कारण बन सकती है।

घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड जी ने यौगिक षटकर्मों का वर्णन इस प्रकार किया है। वे लिखते हैं-

**धौतिर्वस्तिस्तथा नेति**
**त्राटिकं नौलिकं तथा।**
**कपालभातिश्चेतानि**
**षट्कर्माणि प्रचक्षते।।**

अर्थात् धौति, वस्ति और नेति, नौली त्राटक तथा कपाल भाति ये ही षट्कर्म कहे गये हैं।

इन्हें भली प्रकार सीखकर गोपनीय रखने का आदेश इस हेतु से ही दिया गया है कि यह उपयोगी विद्या कहीं अयोग्य और अनधिकृत व्यक्तियों के हाथ में न पड़ जाय।

## १. धौतिं कर्म—

इस धौति कर्म के चार प्रकार बताये गये हैं :—

अन्तर्धौति, दन्त धौति, हृद् धौति एवं मूल शोधन। इसके द्वारा योगिजन अपने शरीर को सबल और स्वस्थ बनाते हैं। यथा :-

**अन्तर्धोतिर्दन्त धौति:**
**हृद्धौतिर्मूल शौधनम्।**

इन चार भेदों के वर्णन से पूर्व धौति का स्वरूप क्या है- इसे समझ लेना आवश्यक है। हठयोग-प्रदीपिका में इसके प्रकार और रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

**चतुरंगुल विस्तारं**
**हस्तपंच दशायतम्।**
**गुरूपदिष्ट मार्गेण**
**सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत।**
**पुन: प्रत्याहरेच्चै**
**तदुदितं धौति कर्म तत्।**

अर्थात् चार अंगुल का जिसका विस्तार हो और पन्द्रह हाथ दश हाथ अथवा कम से कम पाँच हाथ का लम्बा हो बारीक वस्त्र किंचित उष्ण जल से भिगोकर गुरुदेव से बताये हुए क्रम से पहले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ तीसरे दिन तीन हाथ किंवा इससे न्यून व ज्यादा युक्ति पूर्वक, धीरे-धीरे निगल जाय। फिर उसे धीरे-धीरे ही बाहर निकाल दे। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि वस्त्र निगलते समय वस्त्र का अन्तिम छोर दांतों से न छूटने पावे। क्योंकि ऐसा न करने से कदाचित पूरा वस्त्र कण्ठ के नीचे चला जायेगा तो फिर बाहर निकालना कठिन हो जायेगा।

निगल ने वाला वस्त्र कुछ खुरदरा होना चाहिए क्योंकि अत्यन्त बारीक होने के कारण उदर में जाने का गांठ पड़ जाती है तो बाहर निकालने में कष्ट होता है।

इसे वासोधौति अथवा वस्त्र धौति कहते हैं। इसके नियमित रूप में करने से गुल्म, ज्वर प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ पित्त जन्य सारे विकार नष्ट होते हैं। इसे भोजन से पहले ही करना चाहिए।

## १. अन्तर्धौति

इसके भी चार भेद इस प्रकार बताये गये हैं। वातसार, वारिसार, बह्विसार और बहिष्कृति।

### वातसार—

अपने मुख को कौवे की चौच के समान करके यानी दोनों ओठों को सिकोड़कर धीरे-धीरे वायु का पान करें। फिर वायु को पेट के अन्दर चारों ओर संचालित करके धीरे ही धीरे उसे बाहर निकाल दे। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती हैं।

### वारिसार—

उसे कहते हैं जिसमें मुख द्वारा धीरे-धीरे जल पीकर कण्ठ तक भर लिया जाता है। फिर उदर में चारों ओर संचालित करके गुदा मार्ग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है इससे देह निर्मल हो जाती है और दिव्य बन जाती है।

### बह्विसार—

इसकी क्रिया यह है कि नाभि की गांठ को मेरु पृष्ठ में सौ वार लगाये। यानी अपने उदर को इस प्रकार बारम्बार फुलाये और पिचकावे कि नाभि ग्रन्थि जाकर पीठ में लग जाया करे। यह जठराग्नि को दीप्ति कर उदर के सब रोगों को नष्ट करती है।

### वहिष्कृत—

कौवे की चौच के सामन मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु का पान करें कि पेट भर जाय। फिर उस वायु को डेढ़ घण्टे तक पेट में धारण किये रहे पीछे गुदा मार्घ से बाहर निकाल दे। इसी को बहिष्कृति धौति कहते हैं। इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। जब तक आधा घण्टा तक वायु के रोकने का अभ्यास न हो जाय तब तक इसे नहीं करना चाहिए।

### दन्त धौति—

इसके भी चार उपभेद इस प्रकार कहे हैं।

**जिह्वा मूलं दन्त मूलं**
**रन्ध्रे च कर्मयुग्मयो:**
**कपाल रंन्ध्रं पञ्चैते**
**दन्त धौतिं प्रचक्षते**

अर्थात्- दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र और कपालरन्ध्र दन्तमूल में खैर का रस, सूखी मिट्टी अथवा अन्य किसी औषध विशेष से दांतों की जड़ को अच्छे प्रकार साफ करना चाहिए, यही दन्त मूल धौति कहाती है।

### जिह्वामूल—

तर्जनी मध्यमा और अनामिका उँगलियों के गले के भीतर डालकर जीभ को जड़ तक बारम्बार घिसे। इससे कफ दोष दूर हो जाता है।

### कर्णरन्ध्र—

तर्जनी और अनामिका उंगलियों के योग से दोनों कानो के छिद्रों को प्रति दिन साफ करें। यही क्रिया कर्णधौति कहलाती है।

### कपाल रन्ध्र—

शयन करके उठने पर भोजन के अन्त में और सूर्यास्त के बाद सिर के बीच के गड्ढे को दाहिने हाथ के अंगूठे द्वारा जल से प्रतिदिन साफ करें। इसे ही कपाल रन्ध्र धौति कहते हैं। इससे नाड़ियों में शुद्धता आती है तथा दृष्टि में दिव्यता प्राप्त हो जाती है।

### हृद्धौति—

के भी तीन भेद बताये गये हैं— दण्डधौति व मन धौति और वसन धौति। इनमें से वसन धौति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन सभी क्रियाओं से हृदय की शुद्धि की जाती है जो मानसिक शुद्धि से भी कहीं अधिक महत्व की होती है। इन की विधि अपने गुरुदेव से ही जाननी चाहिए।

### मूल शोधन—

इसके बाद मूल शोधन- पर ध्यान देना चाहिए। भगवान घेरण्ड कहते हैं कि मूलशोधन अवश्य ही करना चाहिए। जब तक यह क्रिया नहीं की जायेगी तब तक अपान वायु दूषित बनी रहेगी। गणोश क्रिया इस में बड़ी सहायक हो सकती है। उंगली डालकर मलद्वार को साफ करने की विधि का नाम ही गणेश क्रिया है।

## २. वस्ति क्रिया

इन धौति क्रियाओं के पश्चात्, वस्ति क्रिया करनी चाहिए। योगाचार्यों ने इसके दो भेद कहे हैं। एक जल वस्ति और दूसरा स्थल वस्ति। जल वस्ति को जल में तथा स्थल को जमीन पर ही करें।

जल वस्ति करने वाले साधक को चाहिए कि जहां तक नाभि, पानी में डूबा रहे इतने गहरे जल में उत्कृत आसन से खड़े होकर गुदा द्वारा जल का आकुञ्चन करे और खड़े होकर गुदा द्वारा जल का आकुञ्चन करे और नीली कर्म जिस प्रकार नले उठाये जाते हैं उसी प्रकार नले उठाकर अपान वायु के ऊर्ध्वाकर्षण से जल को खीचें तो इस विधि से जल तत्काल चढ़ जायेगा। उस जल को थोड़ी देर तक पेट में घुमाकर पुन: उसे गुदा द्वार से ही बाहर निकाल दे, यही जल-वस्ति कहलाती है।

## जलवस्ति का फल

**प्रमेहं च उदावर्तं**

**क्रूरवायुं निवारयेत्।**

**भवेतू स्वच्छन्ददेहश्च**

**कामदेव समोभवेत्।।**

अर्थात् उपरोक्त विधि से जो लोग जलवस्ति का अभ्यास करते हैं, उनके प्रमेह, उदावर्त आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। क्रूर वायु निकल जाती है तथा इससे वह साधक स्वच्छ देह होकर कामदेव के अनुसार क्रान्ति धारण करता है।

## स्थलवस्ति विधि

स्थलवस्ति की विधि इस प्रकार है। साधक को चाहिए कि वह पश्चिमोत्तान विधि से लेटकर अश्वनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुञ्चन व प्रसारण करें। इस प्रकार करने से स्थलवस्ति सिद्ध हो जायगी।

## स्थलवस्ति का फल

इस प्रकार स्थल वस्ति का अभ्यास करने वाले साधक को कोष्ठ दोष (मन्दाग्नि आदि) नहीं होता, प्रत्युत् जठराग्नि प्रदीप्त होती है एवं आमवात की शान्ति होती है।

## ३. नेति कर्म:

नेतिकर्म का विधान इस प्रकार है।

अर्थात् एक बिलस्त लम्बा सुस्निग्ध चिकना सूत लेकर नासिका द्वार से प्रवेश कराकर मुख से निकाल ले। इसी का नाम नेति कर्म है।

## नेति क्रिया का फल

कपाल-शोधनी चैव दिव्य-दृष्टि प्रदायनी अर्थात् यह नेति क्रिया कपाल का शोधन करके दिव्य-दृष्टि को देने वाली है। सबसे बड़ी खास बात तो एक ही है कि गर्दन के ऊपर के भाग में होने वाली कुल बीमारियों का नैति नाश करती है।

## जल नेति —

तुतईदार एक लोटे की आकृति के पात्र से एक नासिकारन्ध्र से जल डालकर दूसरे नासिकारन्ध्र से उसी जल को निकालना जलनेति कहलाती है। जल नेति के निरन्तर अभ्यास से अवश्य ही नेत्र-दृष्टि की वृद्धि होती है। इस प्रकार जो लोग प्रात:काल उठकर नासिका से जल पीते है वह भी एक प्रकार की जलनेति है। जो इस प्रकार से नासिका रन्ध्रों से जल पान करते हैं वे मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने वाले सभी रोगों का नाश करके अपनी दृष्टि को बढ़ाते हैं।

## दुग्धपान नेति —

नासिका रन्ध्रों से दूध पीना भी नेति का ही एक प्रकार है। बस क्रिया के करने से मस्तिष्क की सभी प्रकार की गर्मी व खुश्की दूर होकर पुष्टि होती है तथा कुछ ही दिनों में मुख-मण्डल दिध्यतायम दिखाई देने लगता है। इस प्रकार यह नेति कर्म भेद एवं उपभेदों को लेकर अत्यन्त लाभदायक है। योगाश्रमों में सभी जगह इसका अभ्यास कराया जाता है।

## ४. नौली कर्म:

**जमन्दावर्त योगेन**

**तुन्दं सव्यापसव्यत:।**

**नतांसोम्रामयेदेषा नौलि:**

**सिद्धै: प्रचक्षते।।**

अर्थात् नले उठाकर अपने पेट को थोड़ा झुकाकर दांये और बांये घुमाये इसी का नाम नौली कर्म है।

अर्थात् यह नौलि क्रिया सभी हठ-साधनों में उत्तमोत्तम है। पाचन आदि को ठीक करके मन्दाग्नि को दूर करके सभी दोष एवं आमय आदि का शोषण कर साधकों को परम सुख की दात्री है। नौली कर्म का क्या प्रभाव होता है? प्राय: सभी योगी साधक भली प्रकार से जानते हैं। इस क्रिया के द्वारा विष तक निकाला जा सकता है। भारत के इतिहास में इसके कितने ही प्रमाण हैं, ईर्ष्यालु लोगों ने अपनी ईर्ष्या के वशीभूत होकर कितने ही महात्माओं को विष दिया और इन लोगों ने इस नौली कर्म विष को निकाल कर अपने आपको बिल्कुल शुद्ध बना लिया।

## ५. त्राटक कर्म:

**निरक्षेन्निश्चलदृशा**

**सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:।**

**अश्रु संपातापर्यतमाचा-**

**यैस्त्राटकं स्मृतम्।।**

त्राटक कर्म का अभ्यास करने वाले साधक को चाहिए कि किसी सूक्ष्म लक्ष्य को निर्निमेष होकर, अचल दृष्टि से तब तक देखता जाय, जब तक अश्रुपात न हो जाय। योगाचार्यो ने इसी क्रिया को त्राटक कहा है।

अर्थात् यह त्राटक योग का अभ्यास सर्व नेत्र रोगों का हर्ता एवं आलस्य तन्द्रादिक के लिए उत्तम कपाट है। जिस प्रकार नेत्र बन्द कर लेने पर दरवाजे के भीतर मकान में कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता है। ठीक उसी प्रकार त्राटक योग का अभ्यासी साधक तन्द्रा आलस्य आदि से बिल्कुल बच जाता है। इसके साथ ही इस त्राटक योग का निरन्तर अभ्यास करने पर

शांभवी मुद्रा स्वयं हो जाती है व दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। दिव्य-दृष्टि के हो जाने पर अनायास ही योगी समाधिस्थ हो जाता है।

त्राटक विद्या परम गोप्या है। किसी पूर्ण गुरु से ही इसका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा कई प्रकार की हानि हो जाने की भी सम्भावना हो सकती है। अपने अनुभवी गुरुदेव जी के सामने बराबर बताना चाहिए। वे जिस-जिस प्रकार के संकेत दें उसी प्रकार अपने अभ्यास को बढ़ाना चाहिए। खान-पान आदि का पूरा-पूरा विचार रखना चाहिए अन्यथा जहाँ इस अभ्यास के द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है वहाँ कई एक अनधिकारी अपनी वे-बुद्धिमानी से नेत्र दृष्टि से हीन भी हो बैठते हैं। अत: हठयोग के नियमानुसार करना चाहिये, जिससे किसी प्रकार की कोई हानि की सम्भावना ही न रहे।

## कपाल भाति —

**वातक्रमेण व्युत्क्रमेण**
**शीत्क्रमेण विशेषत:।**
**भालभांति त्रिधाकृर्यात्,**
**कफदोषं निवारयेत्।।**

अर्थात् कपाल भाति क्रिया क्रम व्युत्क्रम व शीतक्रम इस प्रकार तीन विधियों से कपाल भांति की जाती है। कपाल भांति के करने से कफादि दोषों की निवृत्ति होती है।

## वातक्रम कपाल भांति —

वातक्रम करने वाले साधक को चाहिये कि पहले इड़ा नाड़ी के द्वारा श्वांस को पूर्ण करे व पुन: पिंगला से रेचेन करे और हसके बाद पिंगला के द्वारा पूर्ण करे व इड़ा के द्वारा धीरे-धीरे छोड़ दे। इस प्रकार पूरक व रेचक करे, किन्तु वेग से नहीं प्रत्युक्त धीरे-धीरे ही अभ्यास करे, ऐसा करने से कफदोष की निवृत्ति हो जायेगी।

## व्युत्क्रम कपाल भाति —

**नासाभ्यां जलमाकृष्य**
**पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।**
**पायंपायं व्युत्क्रमेण**
**श्लेष्मदोषं निबारयेत्।।**

अर्थात् दोनों नासिकाओं से जल खींचे व मुख से निकाल दे। ठीक इसी प्रकार मुख से जल पीकर नासिका-रन्ध्रों से निकाल दे, इसी का नाम व्युत्क्रम कपाल भांति है। इसके निरन्तर अभ्यास करने से कफ के विकार नष्ट हो जाते हैं।

## शीत्क्रम कपाल भांति —

**शीत्कृत्पीत्वा वरत्रेण**
**नासानालैविवर्जयेत्।**
**एवमभ्यास योगेन**
**कामदेव समोभवेत्।।**

अर्थात् बड़े वेग से मुख द्वारा शीत्कार करता हुआ जल को मुख में भर कर नासिकाओं से निकाल दे, बस इसी का नाम शीत्क्रम कपाल भांति है। जो इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करता है तो उसकी आभा भी कामदेव के समान दीखने लगती है। इसके साथ ही जो लोग संगीत प्रेमी हैं उनके कण्ठ अति ही सुन्दर व सुरीलें बन जाते हैं। हमने कितने ही गायकों की इस क्रिया का अभ्यास कराया है, जिसका परिणाम यह निकला कि उनके स्वर भंग आदि दोष हट गये, बहुत सुन्दर स्वर बन गया व उज्ज्वल कान्ति को भी प्राप्त हो गये, इससे महर्षि घेरण्डजी इतना लिखते हैं कि—

योग मार्ग के साधकों को इन षटकर्मों की साधना अपने गुरुदेव के चरणों में बैठकर नियमित रूप से उनके निर्देशानुसार करने से निश्चय ही अभीष्ट फल की प्राप्त हो जायेगी।

# योगिक साधना का महत्व

**विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

संसार में एक लोकोक्ति है और वह यह कि **''मनुष्यों देवानाम् पशु:''** अर्थात् मनुश्य हमेशा देवताओं का पशु रहता है। जिस प्रकार से मनुष्य लोक में गधा घोड़ा खच्चर भैंस बैल गाय आदि हम लोगों के अधीन हमारे पशु हैं, ठीक इस ही प्रकार से हम लोग भी देवताओं के अधीन रहने वाले देवताओं के पशु हैं, ठीक इस ही प्रकार से हम लोग भी देवताओं के अधीन रहने वाले देवताओं के पशु हैं। इसका कारण केवल मात्र एक ही है और वह यह कि देवताओं के अन्दर मनुष्य लोक ही अपेक्षा शक्ति का बाहुल्य है, उस शक्ति के प्रभाव से देवता लोग मनुष्यों पर अपना अनुशासन रखते हैं। देवलोक में देवताओं के स्वत: सिद्ध कुछ विशेष विशेष अधिकार रहते हैं। जिस प्रकार से मनुष्य लोक में पक्षियों को आकाश में उड़ने का जन्मसिद्ध अधिकार है एवं जल में रहने वाले प्राणी मछली कूर्म आदि को जल में रहने वाले प्राणी मछली कूर्म आदि को जल में रहकर सांस लेने की शक्ति स्वत: प्राप्त है यह उनको ईश्वरीय देने हैं, उनको जल में स्वांस लेने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि मनुष्य जल में जायगा तो उसको जल में रहकर स्वांस लेने के लिए नासिका में स्वांस नली आदि लगाकर कोई विशेष प्रयत्न करना ही पड़ेगा। जो मनुष्य स्थल में पैदल चलकर के कहीं की यात्रा करता है तो उसकी वह मार्ग तय करने के लिए काफी समय लगता है किन्तु रिक्शा तांगा मोटर गाड़ी आदि से जाता है तो उसको उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत अपनी यात्रा पूरी करने में कम समय लगेगा और कदाचित वायुयान का मार्गव्यय दे देने पर बहुत ही कम समय लगेगा। और वायुयान में चलने वाले विशेषाधिकारियों से खानपान आदि का विशेष सम्मान भी अवश्य अवश्य प्राप्त करेगा ही। ठीक इस ही प्रकार से मनुष्य लोक का जो भी प्राणी यज्ञ दान तप आदि पुण्य कर्म के करने से स्वर्ग लोक को चला जाता है तो वहां पर जाने पर उस लोक में जो विशेष प्रकार के अधिकार वहां के लोगों को प्राप्त रहा करते हैं वह उसको भी जैसे के तैसे प्राप्त हो जाया करते हैं। कठोपनिषद में वाजस्रवा ऋषि के पुत्र ने यमराज से स्वर्ग आदि का उपदेश करने की प्रार्थना की है। उसने स्वर्ग लोक को क्यों चाहा उसका विशेष कारण बतलाते हुए स्वर्ग लोक की विशेषता को इस प्रकार से बतलाया है :—

**स्वर्गे लोके न भयं किंच नास्ति**
**न तत्र त्वं न जरया विभेति।**
**उभे तीर्त्वाशनाया पिपासे**
**शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके।।**

अर्थात् स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं होता और यमराज वहां उपस्थित नहीं होता। इसके अतिरिक्त देवता लोगों को कभी भी वार्धक्य नहीं आता। मनुष्य लोक में हर मनुष्य को प्रत्युत जीव मात्र को हर समय भूख और प्यास आदि सताया करती है। और **'बुभुक्षित:'** किन्नरौति पापं' अर्थात् भूखा मनुष्य अपनी भूख को हटाने के लिए क्या–क्या पाप नहीं करता! पेट पूर्ति के लिए उसकी जो भी कुछ करना पड़ता है, वह हर प्रकार के प्रयत्न करता ही है। किन्तु स्वर्ग लोक की यह विशेषता है कि वहां पर मनुष्य को भूख प्यास नहीं सताती। सब प्रकार से रोग शोक से दूर रहता हुआ स्वर्ग लोक में सदा प्रसन्न रहता है। इसके अतिरिक्त जब जहां तक का दृश्य वह देखना चाहता है, उतरी दूर तक का वह देख लेता है। जहां तक जिन लोकों की बातें वह सुनना चाहता है वह सुन लेता है इसी प्रकार वह है जिसको छूना चाहता है लाखों करोड़ों कोस की दूरी होने पर भी छू सकता है। जहां जाना चाहे वहां चिन्तन मात्र से तत्काल जा सकता है। अन्तर्धान हो सकता है और प्रगट हो सकता है। चाहे जिस किसी को जो चाहे वरदान व शाप आदि भी दे सकता है। यह सभी प्रकार की शक्तियाँ देवताओं के अन्दर स्वत: सिद्ध रहती हैं। केवल मात्र मनुष्य किसी भी प्रकार से यज्ञ दान तप आदि कर्म करता हुआ वहां पहुँच जाय तो यह सभी की सभी ताकतें वहाँ पर पहुँचने मात्र से ही जीवों को स्वत: प्राप्त हो जाती हैं। मनुष्य लोक में कोई मनुष्य बहुत काफी प्रयत्न करता है मंत्र तंत्र आदि सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है, अथवा योगध्यान एवं समाधी के द्वारा बहुत ही पुरुषार्थ करने पर इन शक्तियों को प्राप्त कर पाता है तब वह कुछ शक्ति वाला बप पाता है। अन्यथा 'मनुष्यो देवानाम् पशु:' की उक्ति के अनुसार मनुष्य सदा सर्वदा ही पशुवत् देवताओं के अधीन रहा करता है क्योंकि देवता लोग शक्ति वाले हैं और मनुष्य बिल्कुल ही शक्ति रहित हैं। इसलिए उसको अपनी कामना पूर्ति के लिए शक्ति वालों की शरण लेनी ही पड़ती है। शक्ति वालों की आराधनायें कर–करके मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले साधारण जीव रावण बाणासुर आदि के उदाहरण पर्याप्त हैं। जिन जिन ने आराधनायें कीं उन उन ने देवता लोगों से विशेष–विशेष वरदान प्राप्त करके अपने आप को धन बल वैभव आदि में सफल मनोरथ बना लिया। किन्तु इन सब की दशा तो वही रही जो दशा एक भिखारी की हुआ करती है। भिखारी के पास न कोई धन है, न कोई बल है और न कोई वैभव है। किन्तु उसका व्यापार केवल मात्र भीख मांगने तक सीमित है। भीख मांग–

मांग करके चाहे वह लाखों करोड़ों रुपए भी जमा करले पर वह सब का सब ऐश्वर्य उसका अपना नहीं है। उसने तो ऐश्वर्य वालों से भीख मांग मांग करके पैसा इकट्ठा किया है। कदाचित भिखारी के किसी व्यवहार से यह लोग किसी भी प्रकार से असन्तुष्ट हो जावें तो उसे कोई भी पाई-पैसा नहीं देंगे। और वह प्राप्त वैभव के खत्म हो जाने पर जैसे का तैसा भिखारी का भिखारी ही रह जायेगा। इसलिए योगियों ने इन सब बातों को समझ करके अपने विशेष अन्वेषण के आधार पर योग विद्या को अपनाया और अपनी शक्ति के आप मालिक बने। उनको किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। 'अदीना: श्याम: शरद: शतम्' के पाठ को पढ़ा और अपना योग मार्ग की साधना के अनुसार अपने आप को सशक्त बना लिया। जिसमें शक्ति है वही मनुष्य दीनता की जंजीरों से छूट सकता है और शक्ति प्राप्ति के केवल मात्र दो ही उपाय हैं कि एक तो शक्ति वालों से शक्ति प्राप्त करने के लिए उनकी उचित वन्दना करता रहे। दूसरा योगिक साधनाओं के द्वारा कुँडलिनी महाशक्ति बनाले— यही योगियों का सुगममार्ग है, जिससे योगी लोग अपनी यौगिक साधना के उत्तम परिणाम को प्राप्त कर लिया करते हैं। इसलिए सिद्धयोग के पाठकों को चाहिए कि वे अपनीं यौगिक साधनाओं को अपनाऐं और दीनता के बन्धनों से छूट कर अपने मनुष्य जन्म को सफल कर डालें।

**सर्वे भवन्तु सुखिनः।**

**सर्वे सन्तु निरामयाः।**

**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,**

**मा कश्चिद दुःख भाग्भवेत्।।**

सच्चरित्र पुरुष विधाता की वाटिका के ऐसे दिव्य पुरुष हैं, जिनकी सुगन्ध कभी कम नहीं होती।
चरित्रवान महापुरुष ऐसे अमर आकाश दीप हैं, जो कभी बुझते नहीं और जिनके अमित आलोक में हम अपने जीवन के जलयान को ले जा सकते हैं।

— श्री इन्द्रदेव उपाध्याय

# तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

जीवन को समाधि के परमानंद से पूर्ण करने के लिए तथा समाधि द्वारा पुनरपि जननम् और पुनरपि मरणम् की भव-व्याधि से छूटकर मोक्ष प्रद प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम जिस साधना की आवश्यकता पड़ती है वहाँ है आचार निर्माण की साधना। जो व्यक्ति अपने आचार अथवा चरित्र निर्माण की इस मूलभूत साधना में सफलीभूत हो पाते हैं निश्चित रूप से वे ही समाधि रूपी अनुपम आनंद-सागर में अवगाहन करने का सौभाग्य प्राप्त करके मनुष्य देह धारण करने के चरम लक्ष्य को पा लेते हैं। योग दर्शन में वर्णित यम-नियम रूपी महाव्रतों पर आरूढ़ होने का महत्वपूर्ण परामर्श साधक को उसके चरित्र निर्माण की दृष्टि से ही दिया गया है। यम-नियम रूपी महाव्रतों पर आरूढ़ हुए बिना योगारूढ़ होने की कल्पना एक निरर्थक कल्पना ही कही जा सकती है। अहिंसा-सत्य अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह संज्ञक यमों और शौच सन्तोष, तपः स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान संज्ञक नियमों से नियंत्रित जीवन ही तो चरित्रवान जीवन कहकर पुकारा जा सकता है। यमों और नियमों की उपेक्षा करते हुए इनकी मर्यादा से बाहर जो जीवन जिया जाता है वही होता है अमानवीय जीवन। आसुरी जीवन, भोग-परायण जीवन और स्वार्थ परायण जीवन, अमानवीय जीवन के इतर नाम हैं। जहाँ स्वार्थ का, लोभ, मोह, क्रोध, दम्भ और दर्प का हिंसा असत्य और परिग्रह का, छल, कपट ईर्षा एवं और द्वेष का स्वच्छन्द साम्राज्य हो, वहाँ चरित्र को उज्ज्वल और पावनतम् बनाने वाली निर्मल विचार गंगा का मुक्त प्रवाह हो ही नहीं सकता है। इस शुभ्र विचारवती भव्य भागीरथी की अपने देह प्रदेश में बहा ले आने के लिए निश्चय ही तुम्हें स्वयं भागीरथ बनना पड़ेगा। जब ऐसा होगा, तभी हो सकेगा शरीर में समाये हुए बहु संख्यक सगर वंशज रूपी कल्मषों का उद्धार या सुधार।

भगवान पतञ्जलि देव ने- इसीलिए यह अनुभव करते हुए कि यौगिक मार्ग ही मनुष्य मात्र ने कल्याण और उद्धार का एक मात्र उपाय है, अपने योग दर्शन में योगारूढ़ बनने के लिए योग के आठ अङ्गों का निरूपण किया है। यम-नियम इन्हीं आठ अङ्गों में से प्रमुख और महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। जो भी व्यक्ति अपने जीवन और व्यवहार में इन यम-नियम रूपी महाव्रतों को धारण कर लेता है वह मनुष्य ही नहीं किन्तु मनुष्य से ऊपर देवत्व की श्रेणी में पहुँच कर मोक्ष का भागी बन जाता है। श्री मद्भगवद्गीता में जिस दैवी सम्पदा का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने किया है वह इन यम-नियमों में समायी हुई है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जैसे महाव्रत यदि हम सबके आचरण में आ उतरें तो फिर शोक मोह मदमान, भय, राग-द्वेष, क्लेश आदि दुर्गुण रहेंगे ही कहाँ? इन यम-नियम रूपी महाव्रतों के पालन में देश विशेष या काल विशेष की भी कोई रुकावट नहीं क्योंकि यह चाहे जिस स्थान पर चाहे जिस काल में धारण किये जा सकते हैं। इसीलिये जाति देश और काल से आबद्ध न होने के कारण सार्व भौम महाव्रतों की संज्ञा इन्हें दी गई है। स्त्री हो या पुरुष बिना किसी हिंसक के इनका परिपालन समान रूप से कर सकते हैं। विश्व के सभी निवासी फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र में क्यों न रहते हों यदि इन यम और नियमों के अनुसार अपना व्यवहार बना लें तो फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर छोटे-बड़े युद्धों का खतरा रहेगा ही कहाँ? सर्वत्र दुःख दैन्य से रहित समानता और सुख शान्ति का वातावरण ही दृष्टिगोचर होगा। लेकिन दुर्भाग्य है कि विश्व के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान-व्यक्ति-व्यक्ति के आचरण निर्माण के हित में बनाये गये ऐसे स्वर्णिम सिद्धान्तों की ओर जा ही कहाँ रहा है। भारत के ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित ऐसे सिद्धान्त और नियम जिनसे संसार शाश्वत शान्ति पा लेने का लाभ उठा सकता है उन राष्ट्र नायकों से उपेक्षित और अनदेखे से पड़े हैं जो आज विश्व शान्ति की और मानवता की रक्षा के नाम पर बड़ी-बड़ी व्ययसाध्य योजनायें बनाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संघ अरबों खरबों का बजट बनाकर सभी अविकसित और विकासशील देशों को इस आशय से प्रचुर धन दे देता है कि दुनिया के धरातल पर रहने वाले सभी मनुष्य स्वस्थ और रोग रहित जीनव जी सकें। लेकिन वह इस सचाई की उपेक्षा कर जाता है कि विश्व के असंख्य मानव हाड़-चाम की दृष्टि से अगर स्वस्थ और सबल बन भी जाँय तो भी मानवता का भला तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मानसिक दृष्टि से मनुश्य को स्वस्थ, सबल और चरित्र निष्ठ न बनाया जावे।

ऐसी जनहितकारिणी विश्वव्यापी योजना अगर किसी ने बनाई है तो वह बनायी है भारत के योगियों, ऋषियों और मुनियों ने। यम-नियमों की साधना को आत्म सात करने तथा तदनुसार जीवन व्यतीत करने का परामर्श इसी विश्वव्यापी कल्याणकारी योजना का प्राथमिक सोपान है। जो इस सोपान पर चढ़ना जान लेते हैं वे न केवल अपना कल्याण कर पाते हैं वरन् संसार के इतर प्राणियों के कल्याण में भी सहायक बन जाते हैं। स्वर्ण जैसा आभावान् और फौलाद जैसा सुदृढ़ चरित्र यम-नियमों की परिपालना के अतिरिक्त और बन ही कैसे और किससे सकता है। ब्रह्मचर्य

इसी साधना का एक अङ्ग है, जो ओज तेज बल बुद्धि आदि की वृद्धि का मुख्य आधार रहता है। यम-नियम की साधना को अपनाने के लिए किसी अल्प अथवा प्रचुर व्यय की भी आवश्यकता नहीं आवश्यकता है केवल व्यक्ति के संकल्प लेने की और संकल्प से विरत न होने की।

इन महाव्रतों की साधना का संकल्प लेकर साधक उससे विरत न हो इसके लिए मन की सहायता लेना अनिवार्य रहता है। क्योंकि मन ही तो पुरुष की सारी गतिविधियों का एकमात्र संचालक होता है। यस्मान्नऋते किञ्चिन कर्म क्रियते- जिसके बिना किसी भी कार्य को किया ही नहीं जा सकता है, ऐसा कथन वेद-संहिताओं में भी मिलता है। वैदिक मन्त्रों में मन की ऐसी अनिवार्यता और प्रमुखता की महत्ता को समझकर हो प्रत्येक मनुष्य को भगवान वेद ने यह आदेश और उपदेश दिया है कि वह नित्य प्रति '**तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु**' इस सूत्र को अपने ध्यान और जप का विष्य बना ले। ऐसा करने से उसे अपने मन को अच्छे, भद्र और कल्याणकारी शुभ विचारों से भरा रखने की प्रेरणा सदा प्राप्त होती रहेगी। जब मनुष्य का मन शुभ और शिव संकल्पों से भरा रहेगा तो वह निश्चित ही कुपधगामी न बनकर सदा सुपथ पर ही चलने की चेष्टा करता रहेगा। '**अग्ने नय सुपथा रायेन**'- अर्थात् 'हे ज्योतिर्मय प्रभु तुम हमें सुपथ पर ले चलो'- यह प्रार्थना तभी सफल और सार्थक हो सकती है जब प्रार्थी साधक का मन शिव-संकल्पों और भद्र भावनाओं से भरा पूरा हो। कलुषित छल, कपट, रागद्वेष और मद-मत्सर आदि दोषों से आपूरित मन-सुपथगामी आदि दोषों से आपूरित मन-सुपथगामी हो ही नहीं सकता है। मन के सुपथगामी हुए बिना सत्कर्मों का सम्पादन और सत्य धर्म का पालन भी नहीं हो सकता इसीलिए वैदिक ऋषियों ने तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु का मूल मन्त्र हमें दिया और इसी दृष्टि से योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने— परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए योगश्चित वृति निरोधः का प्रथम सूत्र दिया। वेदों के शिव संकल्प मन्त्रों में जिस तत्व को मन कहकर इंगित किया गया है उसी को योग दर्शन के सूत्रकार ने चित्त कहा है। चित्त कहिए अथवा मन कहिए उसका सांसारिक भोगों की ओर सतत् भागने के स्वभाव को शिव संकल्पों के केन्द्रबिन्दु परम प्रभु के ध्यान में लगा देने का स्वभाव बना लेना हीं चित्त वृत्ति निरोध का अभिप्राय है। जो दुष्वृत्तियों का निरोध करके ईश्वराभिमुख हो जाते हैं वे चरित्रवान कहलाते हैं और ऐसे चरित्रवान व्यक्ति ही संसार में यश कीर्ति के भागी बनकर कैवल्य लाभ प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु इसके लिए जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं मन का परिष्कार आवश्यक है और इसके साथ ही आवश्यक है यम-नियमों के व्रतों की भूमिका पर दृढ़ता से आरूढ़ रहना।

यही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति-व्यक्ति का और समाज, राष्ट्र और विश्व का भला हो सकता है। न अन्यपन्था विद्यते अयनाय। इसके अलावा अन्य कोई मार्ग हो ही नहीं सकता जिस पर शान्ति और सुख के साथ चला जा सके।

**अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्याः, अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।**
**यत्सारभूतं तदुपासनीयं, हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।**

— शास्त्र अनेक हैं, विद्यायें भी बहुत हैं, समय थोड़ा हैं, विघ्न-बाधायें भी बहुत-सी हैं। अतएव जैसे हंस जल-मिश्रित दूध में जल को अलग करके केवल दूध को ले लेता है, उसी प्रकार निरर्थक बातों को छोड़कर जो कुछ सारभूत हो उसी को ग्रहण कर लेना चाहिए।

— चाणक्य

# वासनायें और उनका समूलोन्मूलन

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

सिद्धयोग के योगानुरागी पाठकों को हम वासनाओं और उनके स्वरूप तथा प्रभाव को प्राय: समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रस्तुत लेख में भी इन वासनाओं के समूलोन्मूलन का दिशा-बोध कर देना हम आवश्यक समझते हैं। बिना वासनाओं के समूलोन्मूलन के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मनुष्य मोक्ष का कभी भी भागी नहीं बन सकता है।

वासना और संस्कार दोनों एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। वासना और संस्कारों का यह अटूट सम्बन्ध ही जीवन में मनुष्य के सुख-दु:खमय भोग का कारण बना रहता है। वासनाओं से संस्कार और संस्कारों से वासनायें पुनर्जीवित होती रहती हैं। बिना किसी रुकावट या अन्तराय के यह व्यवस्था चलती रहती है। देश जाति और काल का भी कोई व्यवधान इसके बीच में खड़ा नहीं हो पाता। स्मृति पुराने से पुराने संस्कारों को प्रगट कर देने या उघाड़ देने में उसी प्रकार अपना सहयोग प्रदान कर देती है जैसे अग्नि को प्रदीप्त कर देने में घृत धारायें उसकी सहायक बन जाती हैं। किसी भी संस्कार का भुगतान-काल आने पर ज्योंही उनकी स्मृति आती है वासनायें जाग्रत होकर अपना काम करना आरम्भ कर देती हैं और वे जाग्रत तथा उदीप्त हुई वासनायें बलात् ही मनुष्य को दिग्भ्रमित कराकर उस कर्मरूपी वृक्ष के नीचे ले जाकर पटक देती हैं, जिसका सुख-दु:ख और जाति रूप फल उसे चखना अनिवार्य था। वासनायें इसीलिए अनादि बतलाई गई हैं। भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के चौथे पाद के सूत्र १० में स्पष्टता से इसके स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है :-

**तासाम् अनादित्वम्**

**च आशिप: नित्वत्यात्।**

यानी वे वासनायें अनादि हैं क्योंकि इच्छायें अनादि हैं। इच्छाओं का सूक्ष्म रूप ही वासनायें कहलाती हैं। जीवात्मा का कर्ता भोक्तापन रूप-आश्रय-यानी इनका आधार लेकर ही वासनायें जीवित रहती हैं। इसलिए इनका अभाव हो जाने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। जीवात्मा 'मैं देह हूँ = मन में समायी इस अविद्या से जब संयुक्त हो जाता है तब वह कर्ता भोक्ता बन जाता है। जब अविद्या से पूरित मन रूपी आधार से आत्मा अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है तब वासना का आधार मन या चित्त हट जाता है। इसके हट जाने पर वासनायें अपने आप हट जाती हैं। चूँकि चित्त या मन ही वासनाओं का आश्रय बनता है इसीलिए योगाभिलाषी साधकों को पहला पाठ योगश्चित वृत्ति निषेध: का गुरुदेव क्रियात्मक रूप से अपना लेने का परामर्श दिया करते हैं।

**तन्मे मन: शिवसङ्कल्प मस्तु-**

का सत्परामर्श भी इसी उद्देश्य से वेद भगवान द्वारा दिया है। जो चित्त प्रभुचिन्तन की रेखाओं से चित्रित रहेगा उससे वासनाओं की काली-काली रेखायें स्वत: ही तिरोहित हो जाती हैं वैसे ही जैसे भगवान भास्कर की प्रभापूर्ण रश्मियों के फैल जाने से घोर अन्धकार पलायन कर जाता हैं।

वासनाओं का अस्तित्व ही मनुष्य के जाति आयु और फलभोग का कारण बना करता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है- चित्त ही इन वासनाओं का आश्रय या आधार बनता है, यहीं से वासनायें उपयुक्त समय आने पर प्रकट होकर अपना कार्य किया करती हैं। जब इन वासनाओं का अभाव हो जाता है तभी साधक मोक्ष और कैवल्य पद प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है। अत: जिन्हें जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष पद पा लेने की अभिलाषा हो उन्हें वासनाओं और वासनाओं के आश्रय या आधार को आवश्यक और अनिवार्य रूप से हटाना ही होगा।

चित्त को शास्त्रकारों ने धर्मादि निमित्त की अपेक्षा से दो प्रकार का बताया है- बाह्य और आध्यात्मिक। जो शरीर आदि बाह्य विषयों का और जो चित्त स्तुति, अभिवादनादिश्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि का अवलम्बन ग्रहण करता है वह आध्यात्मिक कहा जाता है। बाह्य चित्त जगत में विकसित होता है, और श्रद्धा वीर्य, समाधि ईश्वर प्राणिधान आदि गुणों का अवलम्बन लेकर अन्तर्मुखता की ओर जो प्रवृत होता है वह अन्तर्जगत में विकास को प्राप्त होता रहता है। चित्तवृत्ति निरोध का अभिप्राय भी यही है कि चित्त को बाह्य इन्द्रिय विषयों से हटाकर उसे श्रद्धा और निष्ठा के साथ अन्तर्मुख बनाते हुए, उस महान सत्ता के असीम आनन्द-सागर में विलीन कर दिया जाय जहाँ कैवल्य की अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं है।

वासनाओं और उनके क्रियाफल आश्रय आदि के समूलोन्मूलन का एक उपाय यह भी है कि साधक अपने सभी कर्मों को निष्कामता से या केवल प्रभु के लिए करते रहने का सहज स्वभाव बना लें। यह सहज स्वभाव अभ्यासयोग से प्राप्त किया जा सकता है। वासनाओं का मूल निष्काम भाव से सभी कर्म करते रहने से दग्ध होकर पुन: फल देने के अयोग्य हो जाता है। अत: प्रत्येक साधक की वासनाओं के उन्मूलन और क्लेशों के तन्वीकरण के लिए योगमार्ग का सतत् अवलम्बन करना चाहिए।

वहाँ एक शङ्का सहजतया उत्पन्न हो जाती है कि जब वासनायें अनादि हैं तब उनका उन्मूलन कैसे सम्भव हो सकता है? इस शङ्का का निवारण करते हुए व्यासदेव ने योगदर्शन के अपने भाष्य में कहा है:—

'धर्म से सुख, अधर्म से दु:ख, सुख में राग और दु:ख में द्वेष होता है। इन राग और द्वेष से प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न से मन वाणी और शरीर से चेष्टा करता हुआ किसी पर अनुग्रह करता है और किसी की हानि। ऐसा करने से फिर धर्म-अधर्म, सुख-दु:ख राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार यह छ: अरों वाला सप्तार-चक्र चलता है। इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्र को चलाने वाली अविद्या है। वही सब क्लेशों का मूल होने से अनन्त-अनादि का कारण है। जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्म के सुख-दु:ख भोग फल हैं। अधिकार संयुक्त चित्त वासनाओं का आश्रय है, क्योंकि जिस चित्त की फलभोगरूप सामर्थ्य समाप्त हो गयी है उसमें ये वासनायें निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं। जिसके सम्मुख होने से जो वासना प्रगट होती है वही उसका आलम्बन हे (वे रूप, रस आदि इन्द्रिय के विषय हैं) इस प्रकार यह सब संगृहीत हैं, (इसलिए यद्यपि ये वासनायें अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारों के अभाव होने पर उनके आश्रय रहने वाली वासनाओं का अभाव भी हो जाता है।'

भोजवृत्ति में भी व्यास भाष्य के कथन का समर्थन इस रूप में किया गया है:-

## भोजवृत्ति—

'इन वासनाओं के अनन्त होने से उनका नाश कैसे होता है? इसके नाश का उपाय यह है कि—

'वासनाओं का समीपवर्ती (वर्तमान ज्ञान कारण है। उस सुख-दु:खादि के ज्ञान के राग-द्वेषादि कारण हैं। उन राग-द्वेषादिकों का कारण अविद्या है। इस प्रकार वासनाओं का कारण साक्षात् अथवा परम्परा से अविद्या है। वासनाओं के फल शरीरादि और स्मृत्यादि हैं। वासनाओं का स्थान चित्त है। जो ज्ञान का विषय है, वही वासनाओं (संस्कारों का) विषय है। इससे उन हेत्वादिकों से अनेक वासनाओं का भी संग्रह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनायें व्याप्त हैं। जब वासनाओं के हेत्वादिकों का नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योग से उन हेत्वादिकों को जले हुए बीज के बराबर कर दिया जाय तो जड़ के न रहने से वासनायें नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादि को नहीं आरम्भ करतीं। इस प्रकार अनन्त वासनाओं का नाश हो जाता है।'

# स्थितप्रज्ञ के लक्षण

- स्थितप्रज्ञ जीवन के उतार चढ़ाव में एक समान रहता है।
- स्थितप्रज्ञ अशान्त वातावरण में शान्त रहता है। चित्त की एकाग्रता का आनन्द लेता है।
- स्थितप्रज्ञ दु:ख के समय भी सुख का ही अनुभव करता है।
- स्थितप्रज्ञ प्रवृत्ति और दैवी शक्ति की एकता में विश्वास रखता है।
- स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञान और विज्ञान के समन्वय से दोनों का लाभ उठाना चाहता है।
- स्थितप्रज्ञ सत्य-ज्ञान और सत्य-कर्म का मेल बिठाना जानता है।
- स्थितप्रज्ञ आत्म तत्व और परमात्म-तत्व के वास्तविक स्वरूप को जानता है।
- स्थितप्रज्ञ अर्थात् चेतन शक्ति का असीम भण्डार। जो अपने आपको पहचानता है, वह योगी अर्थात् स्थितप्रज्ञ है।
- स्थितप्रज्ञ आदर्श-जीवन अवस्था है। प्रज्ञा स्थिर करने का साधन है। जितेनिद्रयता अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह।

# धारणा : शक्ति प्राप्ति का साधन

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने कभी किसी लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है।

**''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो''**

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म-पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की धुनि सवार रहती है। किन्तु **'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए होता है जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका में डाल दिया जाय तो वह इस बालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु यह शांति भी उसके लिए अस्थाई रहती है। जब तक वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसका दु:ख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है। अत: जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसको शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती और जिसको शान्ति ही नहीं मिली, उसको सुख कहाँ से आयेगा। इसलिए योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम् शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए वे कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होते। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन की ज्योतियों की भी महा ज्योति कहा गया है और वेद मन्त्रों में उसको शिव संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गई है।

वेद भगवान ने कहा है कि हमारा मन जैसे जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है, और सोता हुआ भी इस प्रकार क्रियाशील बना रहा करता है। उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे उत्थान का कारण बने। हमारे पूर्वजों का कथन है—

**मनएव मनुष्याणाम्, कारणं बन्धमोक्षयो:।**

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्व प्रथम मन की चञ्चलता को रोक कर शक्ति संचय करने के लिए उसका संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योग दर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया है, यह सारे के सारे अङ्ग यद्यपि मन पर कण्ट्रोल करने के लिये अचूक साधन हैं। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुखी नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महा वृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेजधार वाला हो और जो उसे काट सके इसलिये परम श्रेय लाभ करने के लिये और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिये प्रथम मन को ही वश में लेना बहुत आवश्यक है। इस की पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

## धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है? इसके विषय में भगवान् पतञ्जलिदेव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं—

**देवबन्धश्चित्तस्य धारणा।**

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त की इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्व प्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य का सर्वार्थक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं किन्तु व्यास देव जी योग-दर्शन के भाष्यकार ने धारणा के इस प्रकार बतलाये हैं—

**नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।**

अर्थात् नाभि चक्र, हृदय, कमल, भूर्ध्व ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय को मन का भावना रूप में चिंतन करना ही वृत्ति बन्ध है। इसका

अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें तो यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री विष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव का आदेश है :—

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमि:।**

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया— इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक बात यह भी परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार **'अकर्णात् कर्णम् श्रेय:'** न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुये जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम-से-कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतञ्जलि देव ने योग-दर्शन में कहा है :—

**धारणा सु योग्यता मनस:**

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है। और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रात: व सायंकाल ३-३ घण्टे अपने ध्येय विषय को धारणा करके उसकी वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रगट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बंधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वत: ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

## संसार

अधिकांश व्यक्ति संसार को दु:ख और अशांति का घर समझते हैं। बहुत थोड़े व्यक्ति संसार को सुख और सौन्दर्य का धाम मानते हैं वस्तुत: संसार में सुख और दु:ख दोनों होते हैं परन्तु दु:ख की अपेक्षा सुख अधिक होता है। संसार का सुख या दु:ख पूर्ण होना मनुष्य की अपनी मन:अवस्था पर निर्भर होता है, अत: संसार के वास्तविक स्वरूप को भली भाँति जान और समझकर अपने को संसार के योग्य और संसार को अपने योग्य बनाना कल्याण प्रद होता है।

लोग संसार को निन्दा करते हैं। संसार की निन्दा करने की अपेक्षा उसका रहस्य जानना उत्तम है। लोग संसार की उपेक्षा करते हैं। उपेक्षा करने से उसका अध्ययन करना श्रेयस्कर है। लोग संसार की उपेक्षा करते हैं। उपेक्षा करने से उसका अध्ययन करना श्रेयस्कर है। लोग संसार का दुरुपयोग करते हैं। दुरुपयोग करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कल्याणकारी है।

— श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक

# योग में श्रद्धा का स्थान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने योग में प्रगति पाने के लिए दो खास उपायों का निर्देन किया है उनमें से एक उपाय भव प्रत्यय कहलाता है। भव प्रत्यय का अर्थ है कि योगी को अपना अभ्यास बढ़ाने के लिए किसी भी प्रकार के उपयोगी साधन सोपान क्रम की आवश्यकता नहीं रहती प्रत्युत उनका जन्म लेना ही उनकी साधना का एक आधार स्तम्भ हुआ करता है। ज्यों ही ऐसे व्यक्ति जन्म लेते हैं त्यों ही पौर्व देही बुद्धिसंयोग को पाकर उनकी साधनाऐं चलने लगती हैं और वे लोग शनै:शनै अभ्यास करते हुए आत्म-साक्षात्कारभूत अपने परम लक्ष्य को पा लिया करते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सभी योगाभ्यासियों के लिए उपाय प्रत्यय का वर्णन किया गया है। उपाय प्रत्यय का अर्थ है कि प्रयत्न विशेष के साथ समाधि स्थिति को प्राप्त करना। इनमें से भी श्रद्धावान का स्थान सर्वोच्च है। आनन्दकन्द अखिलात्मा भगवान कृष्ण का अपनी श्रीमद्भगवत गीता में श्रद्धा को उत्पत्ति आधार सतोगुण का व लाया है।

**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य**

**श्रद्धा भवति भारत**

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो**

**योयच्छ्रद्धः स एव सः**

अर्थात् जिस व्यक्ति के मन में जितना अधिक सतोगुण का उदय हो जावेगा उतना ही अधिक उसके मन में श्रद्धा का भी उदय हो जाएगा। क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति स्थितिशी होने से चित्त को त्रिगुणात्मक माना है। चित्त के विभाग अलहदा अलहदा बटे रहते हैं यदि प्रख्या रूप चित्त सत् रजोगुण तमोगुण मिला रहता है तो उसी प्रवृत्ति सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने में लगी रहती है और कदाचित यही प्रख्या रूप चित्तसत् तमोगुण का अवलम्ब लेता है तो अधर्म अज्ञान अवैर और अनैश्र्य में फँसा रहता है और ज्यों यह प्रख्या रूप चितसत् विशुद्ध चमकता हुआ होने पर यत्किंचित रजोगुण की मात्रा से अवविद्ध रहता है तो धर्म ज्ञान और वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि को चाहने वाला हुआ करता है और निरन्तर अभ्यास करते-करते जब रजोगुण की मात्रा भी यहाँ से समाप्त हो जाती है तब प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान को समझकर धर्ममेघ समाधि को धारण करने वाला होता है। क्योंकि चित्तशक्ति (अर्थात् जीवात्मा) अपरिणमिनी है। श्रद्धा जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता केवल मात्र वोद्धेय बोधों के कारण दर्शित विषया है। वैसे यह अपरिणामिना होने के कारण परम शुद्ध एवं अनन्त है जब योगी का प्रख्या रूप चितसत् परम श्रद्धा को धारण करता है तो यह योग के परमलक्ष्य को प्राप्त कराने में सफलीभूत अपनी श्रद्धा रूप उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेता है। उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिये भगवान पतञ्जलिदेव ने निम्न प्रकार से निर्देश किया है।

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-**

**प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।**

अर्थात् उपाय प्रत्यय अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा यह क्रम रहता है इसमें श्री व्यासदेव जी ने अपना भाष्य लिखते हुये इस सूत्र पर जो अर्थ समझाया है वह इस प्रकार है—

**उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनों वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचितस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद् वस्तु जानाति, तदभ्यासात्-तद्विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।**

अर्थात् उपाय प्रत्यय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति प्रयत्नशील योगियों को हुआ करती है। श्रद्धा चित्त का एक बहुत बड़ा प्रसाद है। श्रद्धा परम कल्याण के देने वाली जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। जो योगी विवेक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए दृढ़ श्रद्धा वाला होकर के अपने प्रयत्न में लगा रहता है उसकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बल पाकर के दृढ़ता को पाती चली जाती है। जब इस योगी के मन में पूरी-पूरी दृढ़ता बढ़ती चली जाती है तो स्मृति का उपस्थान हो जाया करता है जिस योगी को स्मृत्युप्रस्थान हो जाता है उसका चित्त चारों ओर से समाहित हो जाता है और ऐसा योगी बहुत जल्दी प्रज्ञाविवेक को पा लेता है। जिससे वह वस्तुतत्त्व की यथार्थता का ज्ञाता हो जाता है। यहाँ तक का यह विषय सम्प्रज्ञात समाधि का विषय है जब इस समाधि में योगी यथार्थता का ज्ञाता हो जाता है तब उसको इस विषय में भी वैराग्य हो जाता है फिर वह पूर्व जितेन्द्रिय होकर अपने अभ्यास को उत्तरोत्तर और बढ़ता चला जाता है तब वह योग की पराकाष्ठा रूप असम्प्रज्ञात समाधि को पा लेता है। सम्प्रज्ञात योग में वह जिन-जिन विषयों का दृष्टा रहा है असम्प्रज्ञात योग

के अभ्यास से उन्हीं सभी से वह पूर्ण विरिक्त हो जाता है तब उसका इस लोक और परलोक के वासनिक दृश्यों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु यह सभी साधनायें जितेन्द्रिय साधक पर ही आधारित रहती है। आजकल के समाज में प्राय: सभी लोग इस प्रकार के प्रश्न किया करते हैं कि समान स्थिति क्यों नहीं होती। इनका मैं यह समझा देना चाहता हूँ कि अधिकार भेद सामने रहता है, प्रकृति सम्भव तीन गुण हैं और उनका इतना अधिक व्यवहार हे कि सारे संसार के किन्हीं भी प्राणियों का स्वभाव नहीं मिलता। योग के जिज्ञासु अधिकारियों में भी यह तारतम्य बराबर चलता हे। विशेष रूप से भगवान पतञ्जलि देव ने योगियों के नौ भेद विशेष रूप से माने हैं। साधना करने वाले व्यक्तियों में ऊपर लिखे गये सिद्धान्तों के अनुसार तो सभी के अन्दर तो परमावश्यक है ही किन्तु उसके साथ-साथ यह भी देखना जरूरी हो जायगा कि साधना करने वाला व्यक्ति कितने उत्साह एवं लगन वाला है। उनमें से गणनात्मक रूप से जैसे अधिकारी योगियों के नौ भेद इस प्रकार से हैं। मृदु संवेग और उसके साथ मृदु उपाय दूसरा मध्य संवेग और मृदु उपाय तीसरा तीव्र संवेग और मृदु उपाय— इस प्रकार यह तीन प्रकार के हो गये उसमें यदि मध्य संवेग एवं मृदु उपाय मध्यसंवेग मध्यउपाय मध्यसंवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार यह छै: हो गए। उसके बाद तीव्र संवेग एवं मृदु उपाय-तीव्र संवेग एवं मध्य उपाय तीव्र संवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार से यह नौ भेद हो गये। भगवान पतञ्जलिदेव का आदेश है कि—

**तीव्रसंवेगानामासन्न:।। समाधिलाभ: समाधि फलं च भवतीति।।**

अर्थात् जो व्यक्ति तेज लगन वाले हैं- और उनको साधन भी समुचित रूप से उत्तमोत्तम मिल गये हैं। यह लोग प्रयत्न करके जल्दी से जल्दी समाधि स्थिति को पा जाया करते हैं किन्तु खूब गाढ़ी लगन होने पर भी और उत्तमोतम साधन उपलब्ध हो जाने पर भी किसी भी साधन को जब तक हम निरन्तर तप और ब्रह्मचर्य के साथ उसका सेवन नहीं करेंगे तब तक वह अभ्यास दृढ़ भूमि का दाता नहीं बनेगा। भगवान पतञ्जलिदेव का आदेश है कि—

**स तु दीर्घकालनैन्तर्य्यसत्कारसेविती दृढ़भूमि:।**

अर्थात् जो अभ्यास लम्बे समय तक लगातार आदर पूर्वक सेवन किया जावेगा वही दृढ़भूमि हो सकेगा। जो अभ्यास परिपक्व हो जाएगा वह अडिग होगा। इसलिए साधक को चाहिये कि वह अपने अभ्यास को परिपक्व करने के लिये तत्परता जितेन्द्रियता का भी पूर्ण रूपेण पालन करे। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता के अठारहवें अध्याय में आदेश दिया है कि—

**विविक्तसेवी लध्वासी यतवाक्कायमानस:। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित:। अहंकारं बलं दपं कासंक्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।**

अर्थात् अभ्यासी साधक को चाहिये एकांत में रहकर हल्का भोजन करते हुए मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रखते हुये एवं अपने मन में पूर्ण वैराग्य भावनाओं को दृढ़ करके काम-क्रोध-बल-घमण्ड एवं अहङ्कार का पूर्ण रूपेण त्याग करके अपने आपको ब्रह्ममय बनाले। तब वह उपाय प्रत्यय वाला योगी उपरोक्त नियमों का पालन करता हुआ श्रद्धा के समुचित फल दृढ़ता संलग्नता के साथ स्मृत्युस्थान को पाकर प्रज्ञा विवेक एवं संप्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच कर यथार्थता का ज्ञाता बन जाया करता है आजकल कलिकाल के समय में योग के उपदेष्टा अपनी-अपनी मतभेद के कारण विभिन्न प्रकार के प्रचाव सिद्धान्त रहित किया करते हैं जिससे साधक उत्थान के अतिरिक्त वासना के गर्त में ढूबा रहा करता है। हमारे पूर्वजों ने तो जहाँ तक आदेश दिया है कि- साधक के मन में वासना की भावना भी पैदा न हो। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं निर्देश करते हैं कि—

**ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गम्तेषुपजाजते। सङ्गात्संजायते काम: काममात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम: स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रश्यति।**

अर्थात् जो मनुष्य मन में विषयों का चिन्तन भी कर लेता है तो धीरे-धीरे उसकी वह वासनिक प्रवृत्ति पूर्ण रूपेण दृढ़ हो जाती है और वासनिक प्रवृत्ति पूर्ण रूपेण दृढ़ हो जाती है और वासनिक प्रवृत्ति के दृढ़ हो जाने पर चाही हुई वस्तु नहीं मिल पाती तो मन में क्रोध पैदा हो जाता है एवं क्रोध-पैदा हो जाने के बाद स्मृतिभ्रश बुद्धिनाश एवं अन्त में प्रणश्यति की सीमा को पाकर नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए साधक को चाहिए कि इस लेख में लिखे हुये उपरोक्त नियमों को भली प्रकार समझकर अभ्यास की दृढ़ता को बढ़ाए तभी कल्याण के आदि स्त्रोत को प्राप्त कर सकेगा। शेष शुभ।।

**सर्वे भवन्तु सुखिन:**
**सर्वे सन्तु: निरामया।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु**
**मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्।।**

# वर्णाश्रम धर्म और योग

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

हमारे ऋषि मुनियों के प्राचीन सिद्धान्त और उनकी दूरदर्शिता का कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता, उन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार जिन-जिन सिद्धान्तों की स्थापना की वस्तुत: वे सब सत्य सिद्धान्त ही हैं। सिद्धान्त शब्द का आशय है कि जिसका अन्तिम निर्णय बिल्कुल सत्य-सत्य हो वह सिद्धान्त कहलाता है। आचार्यों ने मनुष्य मात्र के भले के लिए चार आश्रमों की स्थापना की। यद्यपि यह भी एक निष्कर्ष सिद्धांत की बात है प्राचीन ऋषि पद्धति के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि चारों वर्ण भी ईश्वरी देन हैं किन्तु यदि स्त्रियों को संरक्षण बिल्कुल ठीक-ठीक पातिवृत्य धर्म के नियमानुसार बिल्कुल ठीक तौर पर होता है और गर्भाधान भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित समय पर होता है तब जैसे पुरुष का आधार-विधान होगा-सन्तान भी बिल्कुल उसके अनुरूप ही होगी- इसमें कोई भी शंका की बात नहीं। आम के बीज से आम और नीम के बीज से नीम आदि-आदि वृक्षों की उत्पत्ति देखने में आती। यही कारण था कि हमारे पूर्वजों ने स्त्रियों की रक्षा के लिये बड़े-बड़े उत्कृष्टोत्कृष्ट नियम रखे थे जिससे यह सब परपुरुषों का दर्शन भी न कर सकें। हमने अपने इधर-उधर के भ्रमणकाल में प्राचीन काल के क्षत्रिय शासकों के महल देखे हैं जिनमें स्त्रियों के संरक्षण का बड़े-बड़े उपयोगी और उत्कृष्ट उपाय बर्ते जाते थे। अत: उनके गर्भ से जो सन्तान पैदा होती थी वह शुद्ध पवित्र अपने पिता के अनुरूप ही हुआ करती थी। महाभारत की लड़ाई के समय अर्जुन के मन में यही एक बहुत बड़ी शंका पैदा हुई थी और उसी शंका को मन में रखते हुये भगवान कृष्ण के सम्मुख उसने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया था :—

**कथं न ज्ञेयमस्माभि:**
**पापादस्मान्निवर्तितुम्।**
**कुलक्षयकृतं दोषं**
**प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।**
**कुलक्षये प्रणश्यन्ति**
**कुलधर्मा: सनातना:।**
**धर्मे नष्टे कुलैकृत्स्नम-**
**धर्मोऽभिभवत्युत।।**
**अधर्माभिभवात्कृष्ण**
**प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रिय:।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय**
**जायते वर्णसंकर:।।**
**संकरो नरकायैव कुल-**
**ध्नानां कुलस्य च।**

अर्थात् अर्जुन के मन में यह शंका पैदा हुई कि यदि हम लड़ाई करेंगे तो वीर योद्धा सब मारे जायेंगे। स्त्रियां सब स्वच्छन्द हो जावेंगी और वह सब इधर-उधर के पतित कर्मों में पड़कर वर्णसंकर सन्तान पैदा करेगा। जिसका अन्तिम परिणाम नरक ही होगा। यह हमारी प्राचीन विचार पद्धति थी स्त्रियों का संरक्षण बड़े विधि विधान से किया जाता था, जिससे उत्तम सन्तान पैदा हो सके। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चौथे अध्याय में चतुर्वर्ण की उत्पत्ति का संकेत स्वयं किया है और उसको ईश्वरीय संविधान बतलाया है :

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**
**गुणकर्मविभागश:।**

यदि ईश्वर की परम कृपा से वर्ण धर्म के नियमानुसार अपने-अपने वर्ण में शुद्ध बीज से सन्तानों की उत्पत्ति हुई है और ऋषि पद्धति नियमों के अनुसार उनका संरक्षण एवं पालन पोषण आश्रम धर्मों के अनुसार ठीक-ठीक बन पड़ा है तो मनुष्य जीवन की सफलता को पाजाना कोई भी कठिन बात नहीं है। हमारे आचार्यों ने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को उत्कृष्टता की ओर ले जाता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि मुनि लोग घनघोर जंगलों में अपने-अपने आश्रमों की संस्थापना किया करते थे और वहां पर छोटे-छोटे बच्चों को लेकर के उनकी शिक्षा पद्धति चलती थी। यमनियमों का नियमानुसार पालन कराया जाता था। उन छोटे बच्चों को वासना का ज्ञान ही नहीं हो पाता था इसके फलस्वरूप स्वत: ही नहीं हो पाता था इसके फलस्वरूप स्वत: ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाया करता था। किसी वासना भोगी व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाना सहज बात नहीं। क्योंकि ''न जातु काम: कामानामुप भोगेन साम्यतो'' हविषा कृष्ण वर्तम्येव भयभूयेवाभिवर्तते अर्थात् मन में पैदा हुई कामना-कामनाओं के उपभोग में पैदा हुई कामना-कामनाओं के उपभोग से शान्त नहीं होती प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने पर आग भड़क उठती है ठीक उस ही प्रकार से कामनाओं के उपभोग करने वाले व्यक्तियों के मन में दिन दूनी

रात चौगुनी कामनायें बढ़ती चली जाती हैं। आज कल के कठिन समय में जबकि सारे देश-प्रदेशों में कामोपभोग का अनवरत चक्र चल रहा है। तथा ऐसी स्थिति में योग ध्यान को प्राप्त कर लेना बिल्कुल असम्भव सी बात हो गई है तब भी जिन बच्चों को वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराया जाता है उनके मनों के अन्दर कामोपभोगी की भावना ही नहीं बनपाती और इसके साथ-साथ जंगलों में रहने पर नित्य शुद्ध कन्दमूल फलों का पान कराये जाने पर एवं गुरुकुल एवं ब्रह्मचर्य आश्रम की नियमावली के अनुसार आसन, बन्धमुद्रायें एवं प्राणायाम आदि का अभ्यास नियमानुसार कराया जाय तो ऐसी स्थिति में स्वत: ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाता है। ऐसे ब्रह्ममय से वातावरण में बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही काल पर विजय प्राप्त करने वाला बन जाता है। वीर्य धारण करने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। वीर्य को हमारे शास्त्रों में, ब्रह्म रूप से कथन किया गया है। जो वीर्य को धारण करें वही ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवी धातु है उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है-

**शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं**
**बल पुष्टिकरं स्मृतम्।**
**गर्भै बीजं वपु: सारो**
**जीवनाश्रय उत्तम:।**

अर्थात् मनुष्य जब अन्न सेवन करता है रस उससे रस बनता है, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी (अस्थि) अस्थि के बाद मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है। और वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य को दैदीप्यमान रखता है। वीर्य सम्पूर्ण शरीर का आधार जीवन का आशय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी और ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है, वैसे ही अन्त में वीर्य रहता है। इसी से मन बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही सर्व सिद्धियों का मूल है। शिव संहिता में भगवान शंकर ने ऊँचे शब्दों में आज्ञा की है-

**मूलमं-मरणं बिन्दु पातेन**
**जीवनं बिन्दुधारणे।**
**तस्मादति प्रयत्नेन**
**कुरुते बिन्दुधारणम्।।**
**मूलम-जायते म्रियते लोके**
**विन्दुना नात्र संशय:।**
**एतज्ज्ञात्वासदा योगी**
**विन्दुधारणामाचरेत।**
**मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने**
**किं न सिध्यतिभूतले।**
**यस्य प्रसादा महिमा**
**ममाप्येदृशो भवेत्।।**

अर्थात् बिन्दु के पतन से मरण व बिन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म और मरण बिन्दु से ही होता है। इसलिये योगी को प्रयत्न करके बिन्दु धारण करना चाहिए। यत्न पूर्वक बिन्दु जय कर लेने पर संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध किया जा सके भगवान कहते हैं कि मेरा जो कुछ प्रभाव संसार में दिखलाई पड़ता है, वह केवल वीर्य धारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम बहुत बड़े-बड़े हैं। शास्त्र विधि के अनुसार ब्रह्मचारियों को दो संज्ञायें रखी गई हैं।

१. नैष्ठिक २. उपकुर्वाण

## १. नैष्ठिक—

नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवन-पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ भीष्मपितामह, शङ्कराचार्य, आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए हैं।

## २. उपकुर्वाण—

उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण रूप से पालन करके गृहस्थ में प्रवेश कर जाय। इनमें किसी भी संज्ञा का कोई भी ब्रह्मधारी हो, ब्रह्मचर्य अवस्था में मैथुन त्याग परमावश्यक है।

**कर्मणा मनसावाचा**
**सर्वावस्थासुसर्वदा।**
**सर्वत्र मैथुनं त्यागो**
**ब्रह्मचर्य प्रवर्जयेत्।।**

जो सब अवस्था में मन, वाणी कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है। वही ब्रह्मधारी कहलाने का अधिकारी है। मनुस्मृति आदि में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए बहुत बड़े-बड़े नियम लिखे हैं। लेख के बढ़ जाने के भय से इन सबका यहाँ उद्धरण करना आवश्यक नहीं समझा गया। किन्तु इस विषय में सभी शास्त्रों का एक मत है कि मन से ब्रह्मचारी को विषयों का चिंतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

**ध्यायतो विषयान्पुंस:**
**सङ्गस्तेषूपजायते**
**सङ्गात्संजायते काम:**
**कामात्क्रोधोऽभिजायते।**
**क्रोधाद्भवति सम्मोह:**
**सम्मोहात्स्मृति विभ्रम:।**
**स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो**
**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।**

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य को सङ्ग, सङ्ग से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की

आज्ञानुसार जो मनुष्य चिन्तन मात्र से विषयों का स्मरण नहीं करता वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है। अन्यथा नहीं। जिसने इस ब्रह्मचर्य रूप महाशक्ति को धारण कर लिया है, उसने संसार को जीत लिया है। ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह शक्तिपात करने की शक्ति आ जाती है। भगवान पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य धारण का फल एक सूत्र में बतलाया है :—

**ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:।**

ब्रह्मचर्य की पूर्व प्रतिष्ठा से पूर्ण सामर्थ्य लाभ होता है। इसी सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी कहते हैं।

**यस्यलाभाद् प्रतिधानगुणानुत्कर्षो यति: सिद्धश्चविनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।**

अर्थात् इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से अनुपम गुण बढ़ते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति संचार करके ज्ञान धारण करा सकता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्म में विचरने वाला पूर्ण समाधिस्थ योगी बन जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ भी ब्रह्माणो चरितुम शीलमस्तयास्तीय: स ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म में विचरणने की जिसकी आदत पड़ जाती है यथार्थ में वही ब्रह्मचारी कहलाता है और हमारे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर ही इसकी पूर्ण रूपेण पूर्ति हो जाती है, क्योंकि जंगल में रहने वाले ऋषि मुनि साधु महात्मा जिन बालकों को शुद्ध सात्विक कन्दमूल फल और पत्ती के साग एवं गौ दुग्ध पान कराकर के और इसके साथ ही नैत्यिक यौगिक व्यायाम कराते हुये वेद शास्त्र उपनिषद् आदि का अध्ययन कराते हुये समय पर प्राणायाम आदि की शिक्षा देते हैं तो २५ वर्ष की अवस्था से पहले ही यह बालक पूर्ण योगी बन जाता। पूर्ण योगी बनने के साथ-साथ जिस व्यक्ति ने वासना का दर्शन किया ही नहीं वह ऊर्ध्वरेता होकर उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें पहुँचने पर बाह्य विषय उसको आकर्षित कर ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आश्रम में ही जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली है वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद अवश्य ब्रह्मचारी ही रहेगा। इन्द्रियों का तीव्रतम आकर्षण उसको विचलित नहीं कर सकेगा। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनु स्मृति में इन ही भावों को पूर्ण रूपेण स्पष्ट शब्दों में अभिज्ञप्त कर दिया है। श्री मनु स्मृति में मनुजी महाराज का स्पष्ट उल्लेख है कि—

**ऋतुकालाभिगामिस्यात**
**स्वदार निरत: सदा।**
**ब्रह्मचारिण्येव एव भवति**
**यत्र तत्र आसने वसन।।**

अर्थात् जो व्यक्ति ऋतु कालान्तर अपनी पत्नी से सहवास करता है और उसमें ही पूर्ण प्रेम करता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट नहीं होता प्रत्युत ऐसी अवस्था में भी वह पूर्ण ब्रह्मचारी ही बना रहता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की साधना में जिसने ऊर्ध्वरितसता प्राप्त कर ली है एवं अपने प्राण कोष को ब्रह्मरंध्र तक खींचकर ले गया है फिर वह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुये भी बिल्कुल पतन से परे रहेगा और युक्त बना रहेगा। इसके अतिरिक्त स्वदारनिरत योगी की पत्नी भी अवश्य योगिनी ही बन जाएगी। वह अपने पति के सहवास से स्वाभाविक शक्तिपात प्राप्त करेगी और उसके अन्दर भी पूर्ण रूपेण योग समाधि का प्रकाश हो जाएगा। इस प्रकार जहाँ पर पति एवं पत्नी दोनों योगी हैं तो उनकी भावी सन्तान भी उस ही प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि का पालन कराये जाने पर योगी ही बन जाएगी। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश कर जाने पर वह दोनों पति पत्नी ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर की हुई कमाई को पुन: अपने अभ्यास क्रम में लाकर के चमका लेंगे और यह वानप्रस्थ आश्रम का समय अपने अभ्यास में और प्रचार में व्यतीत करते हुये यही लोग सन्यास आश्रम में प्रवेश करते हुये पूर्ण वीतराग होते हुये स्थान-स्थान पर जाकर के विशुद्ध प्रचार क्षेत्र को बढ़ाते हुये हजारों व्यक्तियों के कल्याण के कारण बन जायेगे। यह है हमारे प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार वर्णाश्रमों में रहकर वर्णधर्मों का पालन करते हुये योग युक्तता को पाने की विधि। आजकल का समय तो बहुत ही बढ़े हुये भ्रष्टाचार का समय है। कदाचित् कोई व्यक्ति इन प्राचीन विचारों को अपने मस्तिष्क में बैठा लेगा, तो इस में कोई भी शंका की बात नहीं कि वह मनुषय जीवन के अन्तिम लक्ष पूर्ण समाधिस्थ स्थिति को अवश्य-अवश्य पा जाएगा।

**सर्वे भवन्ति सुखिन:**
**सर्वे सन्तु: निरामया।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु**
**मा कश्चिदद्दु:ख भाग्भवेत।।**

## आत्म-विश्वास

जीवन को आदर्श और सुखमय बनाने के जहाँ अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ आत्मविश्वास भी एक मुख्य साधन है। आत्म विश्वास से मनुष्य उच्च और महान् बन सकता है संसार में कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। अभी तक जितने भी अलौकिक, अद्भुत और महान कार्य हुये हैं, वे उन्हीं महान् आत्माओं द्वारा हुए हैं, जो पूर्ण आत्म-विश्वासी थे। जिनकी आत्माओं में अदम्य उत्साह तथा अटूट आत्म-विश्वास था। अत: हे प्रिय बन्धुओ! तुम अपने अन्दर अदम्य आत्म विश्वास को धारण करो। अपने को दीन, मलीन तथा तुच्छ तथा हीन मत समझो। अपने अन्दर वेद की इस उद्दात्त भावना धारण करो :—

''**शुक्रोसि, भ्राजोसि, स्वरति, ज्योतिरसि**''

''हे मनुष्य तू महा बलवान् और शक्तिमान है। शुद्धि पवित्र और निर्मल है, तू तेजस्वी और वर्चस्वी है, तू सुख और शान्ति का भण्डार है, तू सकल ज्योतियों की भी परम ज्योति है।''

— श्रुतिसार

# मन की एकाग्रता के दो शास्त्रोक्त साधन

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

मन की एकाग्रता ही मनुष्य के इहलौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखद और श्रेयस्कर बनाने का मुख्य आधार होती है अत: प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह अपने मनको एकाग्रता की शक्ति से सम्पन्न कर ले। मन की एकाग्रता के बिना दृढ़ सङ्कल्प शक्ति का प्रार्दुभाव भी होना असम्भव ही रहता है। जो अपनी सङ्कल्प शक्ति में दृढ़ता लाकर असम्भव को भी सम्भव बना लेने की इच्छा रखते हैं उन्हें मन को एकाग्रता की आधार-भूमि पर ला खड़ा करने का सर्वप्रथम उपाय कार्यरूप में लाना चाहिए। समाधि-लाभ का आधार मन की एकाग्रता ही होती है। मनको एकाग्र किये बिना इससे तरङ्गित होने वाल अनगिनती वृत्तियों को नियमन अथवा निरोध हो ही नहीं सकता है। इसलिए योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध'** सूत्र को ही प्राथमिकता प्रदान करते हुए अपने समाधि पाद का शुभारम्भ यहीं से किया है। उन्होंने इसी पाद में आगे स्पष्ट किया है कि यदि तुम चित्तवृत्ति निरोध की साधना में सफल हो गये तो निश्चय ही अपने स्वाभाविक आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तीसरे सूत्र में उन्होंने—

**'तदाद्रष्टु: स्वरूपे अवस्थानम्।'**

की और योग-साधकों का ध्यान खींचते हुए स्पष्ट किया है कि चित्तवृत्तियों के निरोध के प्रयास की सफलता तुम्हें आत्म स्वरूप में स्थित कराकर आत्मानन्द की उपलब्धि करा देगी, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य होता है।

पर कैसे प्राप्त हो मन की यह एकाग्रता या चित्तवृत्तियों के निरोध की यह अवस्था? अर्जुन को मन की एकाग्रता अथवा गीता की भाषा में स्थित-प्रज्ञता को वरण करने का उपदेश जगदात्मा भगवान कृष्णचन्द्र ने जब दिया तब उसने भी तो बिना किसी हिचक के यही प्रश्न उनसे पूछ लिया था :—

**चञ्जलं हि मन: कृष्ण**
**प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये**
**वायोरिव सुदुष्करम्।।**

मित्र! बात तो तुम्हारी ठीक है लेकिन यह तो बताओ कृपानिधान! इस वायु के समान अति चञ्चल वश में न आने वाले बलशाली मन को वश में कैसे किया जाय? यह तो बड़ा ही दु:साहस का कार्य है! भगवान ने अर्जुन की बात का समर्थन करते हुए कहा- ठीक ही कहते हो तुम महाबाहो-

**असंशयं महाबाहो**
**मनो दुर्निग्रहं चलं।।**

कौन्तेय! विलाशक तुम्हारा कहना तो ठीक ही है। मन निश्चय ही अतिशय, चञ्चल और दुर्निग्रही है। इसे पकड़कर ठहरा पाना यश में ले आना दुष्कर तो जरूर है। लेकिन सुनो अर्जुन—

**अभ्यासेन तु कौन्तेय।**
**वैराग्येण च ग्रह्यते।।**

अभ्यास और वैराग्य-यह दो ऐसे साधन है जिन्हें अपना लेन पर यह एकदम न सही तो धीरे-धीरे क्रमश: यह चञ्चल होते हुए भी मनुष्य के वश में आ जाया करता है। यह दोनों ही साधन शास्त्रोक्त हैं, ऋषियों और मुनियों द्वारा परीक्षित हैं। योगियों का अपना अनुभव रहा है कि जिनका मन वश में नहीं हो पाता, अभ्यास और वैराग्य के अमोघ साधन न अपनाकर जो असंयतात्मना बने रहते हैं योगरत्न की उपलब्धि उनके लिए दुष्प्राप्य ही बनी रहती है।

योग-दर्शन में भगवन पतञ्जलि ने भी मन को एकाग्र बनाने के लिए इन्हीं दो साधनों को अपनाने का परामर्श दिया है। उनका आदेश है—

**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध:।**

१/१२

अर्थात् मन को वश में करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य ही है, निश्चय ही अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन तथा उसकी पंचधा वृत्तियों का निरोध हो जाता है। अभ्यास कहते हैं किसी भी यत्न अथवा क्रिया को पुन:-पुन: करने को। अगले सूत्र में भगवान पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है—

**तत्र स्थितौ यत्नोभ्यास:।**

श्रीमद् भगवद्गीता में भी इसी अभ्यास को इस प्रकार निरूपित किया है—

**शनैशनै रूपर मेद्,**
**बुद्धया धृति गृहीतया।**
**आत्म संस्थ मन: कृत्वा,**
**न किंचिदपि चिन्तयेत।।**

साधना के अभ्यास में विवेक का मिश्रण रहता है। विवेक के द्वारा ही अनात्म विषयों से आत्मा को भिन्न जानकर ही अनात्म विषयों और वस्तुओं के प्रति वैराग्य का उदय होता है। विवेक और वैराग्य दोनों का जोड़ा है और इनके पीछे ही शमादि सम्पत्ति की सिद्धि होती है। इसीलिए यत्नपूर्वक अभ्यास में निरन्तर रत रहने का आदेश और परामर्श योग साधकों को दिया गया है। वैराग्य भावना को दृढ़भूमि पर ला खड़ा करने के लिए सत्कार पूर्वक यानी श्रद्धा के साथ दीर्घकालीन अभ्यास ही चित्त वशीकार का एक मात्र उपाय है। जब मन दृढ़भूमि पर आ खड़े होने का अभ्यस्त हो जायगा तो फिर शिवसङ्कल्पों की धारा में सहजतया बह जाने के सिवाय उसको उल्टी दिशा में यानी जगत् के दु:ख-जञ्जालों की ओर जाने में कोई रुचि ही नहीं रहेगी।

भगवान व्यास देव ने योगदर्शन के सूत्र **''अभ्यास वैराग्यभ्यां तन्निरोध:''** के आशय को एक सुन्दर उपयोगी उदाहरण द्वारा हृदयङ्गम् कराने का उत्तम प्रयास किया है। वे लिखते हैं—

**चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्रारभारा विवेक विषय निम्ना सा कल्याणवहा। संसार प्राग्भारऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषय स्रोत: खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत्र उद्घाटयते।**

**इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध:।।**

अर्थात् चित्त रूपी नदी दो प्रकार से बहती है। एक कल्याण मार्ग की ओर और दूसरी पाप मार्ग की ओर। हमारा चित्त जिसका प्रारम्भ कैवल्य से है और विवेक ज्ञान की ओर जिसका प्रवाह झुका रहता है वह मार्ग मनुष्य को कल्याण की ओर खींचकर ले जाता है, और जिसका आदि स्रोत संसार से है वह चित्त अविवेक अज्ञान की यानी नीचे की ओर बहा करता है, वह पाप की ओर बहा ले जाता है। एक अच्छा साधक बुद्धि बल से विषय स्रोत का दमन करके विवेक दर्शन का अभ्यास करे तो कल्याण की पराकाष्ठा को पा सकता है। विषय स्रोत को दमन करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता है और विवेक स्रोत के उद्घाटन के लिए तीव्रतम् अभ्यास की जरूरत रहती है। इस प्रकार से वैराग्य और अभ्यास दोनों के द्वारा ही चित्तवृत्ति निरोध हो सकता है। अभ्यास के विषय को बतलाते हुए भगवान पतञ्जलि देव के इसी प्रकरण को भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भगवद्गीता में भली प्रकार से समझाया है। अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण योग का उपदेश करते हैं और आदेश देते हैं कि हे अर्जुन! तुम योगी बनो अभ्यास और वैराग्य की सतत् साधना करो। यही योगी बनने का एक मात्र साधन है।

मनोनिरोध के उपाय का यही प्रकार उपनिषदों में और अन्यान्य धर्मग्रन्थों में भी बतलाया गया है। योगदर्शन के—

**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास:।**

सूत्र पर व्यासभाष्य की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

**चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्तदर्थ: प्रयत्नो: वीर्य मुत्साहस्तत्संपिपादयियिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यास:।**

अर्थात् वृत्ति रहित चित्त को प्रशान्त में ले आने के लिए दृढ़ता और उत्साह पूर्वक जिन साधनों का अनुष्ठन किया जाता है वह अभ्यास कहलाता है, एक साधक को अभ्यास भी किस प्रकार करना चाहिए यह भी हर व्यक्ति नहीं जान सकता। जो व्यक्ति एक दिन अभ्यास करके दूसरे दिन छोड़ देते हैं वह अभ्यास के उत्कृष्ठ फल को नहीं पा सकते। उसका निदर्शन भी भगवान पतञ्जलि देव ने स्पष्टतया भली प्रकार से इस सूत्र में किया है—

**स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य्य सत्कारा सेवितो दृढ़भूमि:।**

हम ऊपर बता चुके हैं कि वह अभ्यास लम्बे समय तक किया हुआ और लगातार किया हुआ और आदरपूर्वक किया हुआ परिपक्व स्थिति का सम्पादन करता है। इस सूत्र पर भी व्यास भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार पढ़िये—

**दीर्घकालासेवित: निरन्तरासेवित: तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादित: सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवान् विभूत विषय इत्यर्थ:।**

अर्थात् अभ्यास करने वाले साधक को चाहिए कि उस अभ्यास को लम्बे समय तक करे और लम्बे समय तक करने का अर्थ यह है कि कम से कम यदि कोई व्यक्ति किसी मन्त्र का जप करना आरम्भ करता है तो उस मन्त्र का जप कम से कम दो घण्टे तो बराबर करना ही चाहिए। दो या तीन घण्टे लगातार मन्त्र जाप करने के बाद कम से कम मेरुदण्ड को सीधा रखकर एक या दो घण्टे अपनी शारीरिक स्थिति को देखकर ध्यानयोग का अभ्यास भी करना चाहिए क्योंकि हमारा शास्त्रीय आदेश यह स्पष्टीकरण के साथ बतलाता है कि—

**स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत् स्वाध्याय योगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।**

अर्थात् स्वाध्याय करने से, मन्त्र-जाप आदि करने से ध्यानाभ्यास के लिए मन एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है और ध्यानाभ्यास में स्वाध्याय किये जाने वाले मन्त्र का अभ्यास करें। जहाँ पर स्वाध्याय और योग दो की सद्सम्पत्ति इकट्ठी हो जाती है वहाँ परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है, किंतु यह सब अभ्यास लम्बे समय तक करना ही चाहिए। लम्बे समय का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक साधक चार या छ: घण्टे कर लेता है तो वही उसका लम्बा समय मान लिया जाय। ऐसी बात नहीं। उस प्रकार तो करना ही चाहिए किन्तु लम्बे समय का अर्थ वर्षों से है। उस अभ्यास को कई वर्षों तक करते ही रहना चाहिए किन्तु साथ-साथ निरन्तर नित्य नियम से करते रहना चाहिए। अभ्यास काल में साधक को तप, ब्रह्मचर्य आदि सभी व्रतों का पालन भी करना चाहिए। जो साधक इस प्रकार से जितेन्द्रियता पूर्वक और तपश्चर्यापूर्वक अभ्यास को बढ़ाते हैं वह अभ्यास

उनका बिल्कुल दृढ़ हो जाया करता है। तपस्या और जितेन्द्रियता के लिए आहार-विहार की नियमितता भी साधक के लिए परम कल्याणकारी रहती है। भगवान कृष्ण ने एक अभ्यासी साधक के लिए श्रीमद्भवगद् गीता में सात्विक आहार-विहार के लिए इस प्रकार का निर्देश दिया है :—

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति,**
**न चैकान्तमनश्नत:।**
**न चाति स्वप्नशीलस्य,**
**जाग्रतो नैव चार्जुन।।**
**युक्ताहार विहारस्य,**
**युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य,**
**योगो भवति दु:खहा।।**

अर्थात् जो लोग बहुत अधिक खाते हैं उन पर अन्न के प्रभाव से शरीर में आलस छाया रहता है, अत: ऐसे साधक सतत् अभ्यास नहीं कर सकते प्रतिकूल इसके जो साधक बिल्कुल खान-पीना छोड़कर अभ्यास करते हैं वे भी दृढ़ता से साधन नहीं कर सकते क्योंकि उनका मन भूख के कारण अन्न ध्यान में ही लगा रहेगा। इसके अतिरिक्त जो लोग बहुत अधिक सोते हैं उनका सारा समय निद्रा में ही व्यतीत हो जाया करता है। या जो लोग बहुत अधिक जागते रहते हैं उनकी नाड़ियाँ भी विश्राम न पाकर उन्माद को पैदा करने वाली बन जाती हैं। इसलिए योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि वह ठीक समय पर सो जाय तथा ठीक समय पर उठ जाय। ठीक समय पर भोजन कर ले अपने आहार-विहार को नियमित और सीमित रखे, तथा अपनी सभी हरकतें परमित रक्खे तो उसका वह अभ्यास अवश्य ही दृढ़ता का सम्पादन करेगा।

साधक का जीवन कैसा होना चाहिए इसका एक और संकेत भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार दिया है—

**विविक्तसेवी लघ्वाशी,**
**यतवाक्कायमानस:।**
**ध्यान योगपरो नित्यं**
**वैराग्यं समुपाश्रित:।।**
**अहंकारं बलंदर्पं**
**कामं क्रोधं परिग्रहम्।**
**विमुच्य निर्मम: शान्तो**
**ब्रह्मभूयाय कल्पते।।**

अर्थात् अभ्यासी साधक को एकान्त-प्रदेश में अभ्यास करना चाहिए। जहां पर किसी भी प्रकार से कोई सांसारिक अन्तराय पैदा न हो और हल्के आहार का सेवन करना चाहिए। आहार हल्का हितकर और परिमित करे इसके साथ अपने ही मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रक्खे, कोई भी निकृष्ट व्यवहार न वाणी से होने दे, न मन से कोई भी अशुभ चिंतन न करे और न ही शरीर से कोई अनुचित चेष्टा करें। मन में वैराग्य को धारण करके अपने अभ्यास को नित्य नियम से करता रहे। अहंकार, तबल का अभिमान, दर्प, काम और क्रोध काम लोलुपता को छोड़कर यदि साधक शान्तभाव से रहेगा तो उसके मन में अवश्य ही ब्रह्मतत्त्व का का प्रकाश हो जायगा।

# सद्शिष्य-लक्षण

समर्थ स्वामी रामदास

बिना सद्गुरु के सद्शिष्य का कोई उपयोग नहीं होता; और बिना सद्शिष्य के सद्गुरु व्यर्थ है। उत्तम और शुद्ध भूमि ढूँढ़कर उसमें रद्दी बीज बोने से अथवा चट्टान पर उत्तम बीज बोने से अथवा चट्टान पर उत्तम बीज बोने से जो दशा होती है, वही दशा असद्गुरु के सामने सद्शिष्य की और असद्शिष्य के साथ सद्गुरु की होती है। सद्शिष्य तो सत्पात्र होता है पर असद्गुरु उसे मन्त्र-तन्त्र आदि बतलाता है जिससे उसका न तो इहलोक सुधरता है और न परलोक। अथवा गुरु तो पूरी कृपा करता है, पर शिष्य ठीक उसी प्रकार अनधिकारी है, जैसे भाग्यवान पुरुष के आगे भिखारी का पुत्र हो। मतलब यह कि सद्गुरु और सद्शिष्य दोनों एक दूसरे के बिना व्यर्थ होते हैं। यदि दोनों सद् न हों तो परलोक नहीं सुधरता। जहाँ सद्गुरु और सद्शिष्य का जोड़ मिल जाता है, वहाँ कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता; अनायास ही दोनों के हौसले पूरे हो जाते हैं, यदि भूमि भी अच्छी हो और बीज भी अच्छा हो। पर वर्षा न हो तो भी बीज नहीं उगता। इसी प्रकार सद्गुरु और सद्शिष्य के मिलने पर भी बिना अध्यात्म निरूपण के काम नहीं चलता। यदि बीज बोया गया और वह जमा भी, पर यदि उसकी देख-रेख न की गई तो भी वह नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार साधना से बिना साधक के भी सब काम बिगड़ जाते हैं। जब तक अनाज तैयार होकर घर में न आय, तब तक सभी कुछ करना पड़ता है। बल्कि अनाज घर में आ जाने पर भी बराबर साधना करते रहना चाहिए। एक बार बहुत-सा लेने पर भी भोजन की आवश्यकता होती ही है। आत्मज्ञान हो जाने पर भी साधना की आवश्यकता होती है। इस प्रकार भवसागर से पार उतरने के लिए साधन, अभ्यास सद्गुरु सद्शिष्य, सद्शास्त्रों के विचार सत्कर्म और सद्वासना की आवश्यकता होती है।

# आत्मा और परमात्मा

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

संसार के सभी विचारकों में आत्मा और परमात्मा सम्बन्ध में विविध प्रकार का दृष्टिकोण पाया जाता है। आत्मा को कोई कहता है कि वह विभु है तो कोई कहता है कि वह अणु है। किन्तु निर्णय के तट पर कोई भी पहुँच नहीं पाता। **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के अनुसार आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्णय दे देते हैं। पर स्वरूप स्थिति यथार्थ में क्या है इसको सही रूप में कोई भी समझ नहीं पाता। तब सत्यता का फैसला कौन करें? भगवान अखिलात्मा त्रिजगतपावन श्री कृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भागवद्गीता में इस प्रकार का आदेश दिया है—

**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते**
**कार्याकार्यं व्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं**
**कर्म कर्तुमिहार्हसि।।**

अर्थात् जहाँ पर मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाय वहाँ पर शास्त्र प्रमाण को अपना आधार बना लेना चाहिये। शास्त्र का जैसा निर्देश हो उस ही प्रकार चल पड़ना चाहिये। वही कल्याण का मूल साधन होता हे। वैसे दर्शनकारों ने आत्मा का लक्षण इस प्रकार से किया है— 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख अज्ञानान्य न न्यात्मनो लिंगम्' अर्थात् जो सुख और दु:ख का अनुभव करता है, सुख की प्राप्ति के लिये और दु:ख की निवृत्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है विविध प्रकार की कामनायें मन में करता है और इच्छा पूर्ण न होने पर राग और द्वेष में फँस जाता है। और जिस पर अज्ञानान्धकार छाया रहता है। यह सब आत्मा के लक्षण हैं।

सारे संसार में साधारण रूप से जीव मात्र में ये ही लक्षण प्राय: दिखायी देते हैं। हर प्राणी के भीतर इच्छायें होती हैं और इच्छायें पूर्ण न होने पर उसमें क्रोध की भावना उदय हो जाती है। सुख का प्राप्ति की कामना भी होती है तथा थोड़ा-थोड़ा सुख दु:ख प्राप्त भी होता रहता है। अज्ञानन्धकार तो इतना है कोई किसी की हालत को नहीं जान पाता। इससे आत्म तत्व के अस्तित्व का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। किन्तु ये सारे के सारे लक्षण प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले भी है भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में स्वयं कहा है:—

**य एनं वेत्ति हन्तारं-**
**यश्चैनं मन्यते हतम्।**
**उभौ तौ न विजानीतो**
**नायं हन्ति न हन्यते।।**
**न जायते म्रियते वा कदाचि-**
**न्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।**
**अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो**
**न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**
**वेदा विनाशिनं नित्य**
**य एनमजमव्ययम्।**
**कथं स पुरुष: पार्थं कं**
**घातयति हन्ति कम्।।**
**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**
**नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-**
**न्यानि संयाति नवानि देही।।**
**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**
**नैनं दहति पावक:।**
**च चैनं क्लेदयन्त्यापो**
**न शोषयति मारुत:।।**
**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-**
**क्लेद्योशोष्य एव च।**
**नित्य: सर्वगत: स्थाणुर**
**चलोऽयं सनातन:।।**
**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय-**
**मविकार्योंऽयमुच्यते।**
**तस्मादेवं विदित्वैन**
**नानुशोचितु मर्हसि।।**

अर्थात् जो इसको मारने वाला जानते हैं या इसको मरने वाला जानते हैं वे दोनों ही यथार्थता को नहीं समझते। यह आत्मा किसी को नहीं मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है। न इसका जन्म होता है न

यह मरता है। यह आज तक न कभी हुआ है न कभी आगे होगा। यह सदा सर्वदा अजन्मा है और सदा सर्वदा नित्य है, सदा शाश्वत् और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर यह आत्मा नहीं मरता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- कि हे अर्जुन! तुम इस बात का विचार करो कि जो व्यक्ति इस आत्मा को अज अविनाशी एवं नित्य जानता है और जो इसे विनाश रहित जानता है तथा यह भी जानता है कि आत्मा न किसी को मारता है और न कोई इसे मारता है। बात तो केवल मात्र इतनी है जैसे एक मनुष्य काफी दिन के पहने हुये फटे पुराने वस्त्रों को उतार कर फेंक देता है और नये वस्त्र धारण कर लेता ठीक इसी प्रकार जीर्ण शीर्ण शरीरों को प्रारब्ध भोगान्तरं जीवात्मा छोड़ देता है और नया शरीर धारण कर लेता है। सिद्धांत की बात यही है। इस आत्मा को शस्त्र नहीं काटते, अग्नि नहीं जलाती, जल गीला नहीं कर पाता, वायु इसका शोषण नहीं कर सकती। ये आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। नो नित्य सर्वगत स्थाण अचल और सनातन है। अव्यक्त अचिन्त्य और सदा अविकारी है। इसके इस स्वरूप को जो व्यक्ति समझ लेता है वह चिन्ता नहीं करता। खेद नहीं करता, पश्चात्ताप नहीं करता। इसलिये हे अर्जुन आत्मा के इस स्वरूप को सुनकर तुम भी कोई चिन्ता न करो। आगे भगवान ने गीता के १५ वें अध्याय के अन्त में प्रकृति पुरुष और परमात्मा का स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार निरूपण किया है जो प्रस्तुत विषय को समझने में सहायक होगा।

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके**
**क्षरश्चाक्षर एव च।**
**क्षरः सर्वाणि भूतानि**
**कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।**
**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**
**परमात्मेत्युदाह्रतः।**
**यो लोक त्रयमाविश्य**
**बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।**
**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम-**
**क्षरादपि चोत्तमः।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे।**
**च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।**

अर्थात् संसार में पुरुष दो हैं। एक का नाम क्षर और दूसरे का नाम अक्षर है। क्षर शब्द से पंचभूतात्मिका प्रकृति का संकेत है। कूटस्थ जीवात्मा कहलाता है। किन्तु प्रकृति और पुरुष इन दोनों से अलग परमात्मा और है जो सारे संसार में व्यापक है। इसलिये हे अर्जुन मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे हूँ अतः मेरा नाम पुरुषोत्तम कहा गया है। यहाँ जीवात्मा को कूटस्थ कह करके एक सीमा का संकेत किया। किन्तु कूटस्थता को छोड़ कर बौध्येय बोध से परे होकर जब अपने नित्य शाश्वत अज अव्यय स्वरूप में आता है तब यह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं अज्ञानादि से दूर हो जाता है। इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये। आत्मा एक विकार रहित निर्मल ज्योति है। उसमें सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि कुछ भी नहीं है किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली त्रिगुणात्मिका बुद्धि निर्मल ज्योति के सामने पड़ती है तब वह बुद्धि इस ज्योति के प्रकाश से प्रकाशित होकर चेतन भाषित होने लगती है। आत्म ज्योति के प्रकाश को पाकर त्रिगुणत्मिका जड़ बुद्धि चेतन सी हुई इस त्रिगुणात्मिका बुद्धि ने अपना स्वरूप इस आत्मा को दिखलाया। ज्यों ही बुद्धि ने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया त्यों ही ये नित्य शुद्ध अविकारी आत्मा बौध्येय बोधों को पाकर भिखारी जैसा दिखलायी देने लगता है। और सुख-दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इसमें भाषित होने लगते हैं। जबकि वस्तुतः शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्य स्वभाव है। इसके अन्दर कभी भभ कोई विकार है ही नहीं। योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने **'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'** ये शब्द कह करके चित्त वृत्तियों के नितराम रोध को योग कहा है। और योग नाम समाधि का है। समाधि की यथार्थता को समझाते हुये भगवान पतञ्जलि देव ने कहा- **'तदादृष्टुः स्वरूपेवस्थानं'** अर्थात् यह दृष्टा जीवात्मा समाधि अवस्था में अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में अवस्थित रहता है। व्यास भाष्य में स्वरूप प्रतिष्ठा चितशक्तिर्यथा कैवल्ये स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ समझाया जैसे चेतन शक्ति जीवात्मा अपने केवली भाव में हुआ करता है। जिस समय जीवात्मा बौध्येय बोधों को देखता है तब उसकी सत्ता जीव सत्ता होती है। भगवान पतञ्जलिदेव ने उसका 'वृत्तिसारूप्य मित्स्य' यह सूत्र कह करके यह स्पष्ट किया है कि यह जीवात्मा समाधि से अतिरिक्त काल में अपनी वृत्तियों के साथ मिला रहता है। समाधि अवस्था के अन्दर जीवात्मा का कैवलीभाव रहता है उस समय इसमें कोई भी विकार नहीं रहा करता। उपनिषद इसी सिद्धान्त की स्पष्ट शब्दों में पुष्टि करती है।

**भिद्यते हृदय ग्रन्थि**
**श्छिद्यन्ते सर्व संशयः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि**
**तस्मिन् दृष्टे परा बरे।।**

अर्थात् उस नजदीक से नजदीक और दूर से दूर रहने वाली व्यापक सत्ता के देख लेने बाद हृदय की गांठ खुल जाती है। अर्थात् बौध्येय बोध खत्म हो जाता है और ऐसी स्थिति आ जाने के बाद सभी प्रकार के संशयों का स्वतः ही छेदन हो जाता है। सभी प्रकार के कर्म जला की समाप्ति हो जाती है। तब इस आत्मा पर किसी भी प्रकार से इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और अज्ञान का आवरण नहीं रहता। उस अवस्था के अन्दर जीवात्मा सभी प्रकार के क्लेश-बन्धनों से मुक्त होकर के योगी बन जाता है। तब यह संसार में जो भी क्रिया कलाप करता है वह कर्तव्य बुद्धि से रहित होकर करता है। उस समय इसके कर्म पाप पुण्य रहित होकर रहा करते हैं। यह जीवात्मा का स्वरूप जो समाधि स्थिति में जाकर बिल्कुल

एकत्व को पा जाता है और सब प्रकार से ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। योग-दर्शन में ईश्वर का लक्षण बताते हुये भगवान पतञ्जलि देव ने ईश्वर को पुरुष विशेष बताया है। पुरुष विशेष शब्द का अर्थ है, बहुत से पुरुषों में एक खास पुरुष और यही अर्थ परमात्मा शब्द का भी है। अर्थात् परमाशोचौ आत्मा इति परमात्मा कहते हैं। पुरुषों में जो खास पुरुषं है अर्थात् पुरुषों में जो विशेष पुरुष है उसे पुरुष विशेष ईश्वर कहा जाता है। योग दर्शन में पुरुष ईश्वर का लक्षण भगवान पतञ्जलिदेव ने इस प्रकार किया है—

**'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।'**

अर्थात् क्लेश कर्म विपाक आदि से जो बिल्कुल अपराभिष्ट है उसी को पुरुष विशेष ईश्वर कहा गया है। वह ईश्वर सदा ही सिद्ध और सदा ही मुक्त है उसको कभी भी कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में आने के लिये साधना की आवश्यकता रहती हैं किन्तु परमात्मा को यह कभी आवश्यकता नहीं रहती। वह परमात्मा सदा ही सिद्ध है और सदा ही मुक्त है। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव ने अपने भाष्य को पंक्तियों में बिल्कुल ही स्पष्ट करके समझाया है—

**अविद्यादयः क्लेशः कुशला कुशलानि कर्माणि तत्फलं, विपाकस्तदनु गुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो व योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेन अपरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः। कैवल्यँ प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्य प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा यन्ध कोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्ध कोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।**

**योऽसौ प्रकृष्ट सत्वो पादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तः आहोस्विन्निनिंमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम्? प्रकृष्ट सत्त्वनिमित्तम्। एतयो शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरंसत्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्माद एतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।**

**तच्च तस्यैश्वर्य साम्यातिश यविनिर्मुक्तम्, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिश्य्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेवं तत्स्यात्, तस्माद्यत्र काष्ठाप्रप्तिरैश्वर्यमस्ति स ईश्वरः। न च तत्समान-मैश्वर्यमस्ति कस्माद द्वयोस्तुल्य योरे कस्मिन्, युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु-इत्येकस्य सिद्धौ इतरस्य प्राकाम्यविधाता दूनत्वं प्रसक्तम्, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थ प्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद् यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्य स ईश्वरः स च पुरुष विशेष इति।**

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, से ५ क्लेश होते हैं। अच्छे और बुरे कर्म होते हैं और उनके फल को विपाक कहते हैं। फलों के साथ कर्मों का अनुबन्धन करने वाली वासना और वह कर्म वासना जहाँ जमा रहती है उसको कर्माशय कहते हैं। यद्यपि क्लेश कर्म विपाक आदि मन में रहते हैं आत्मा में नहीं। किन्तु व्यवहार में यह कहा जाता है कि इन कर्म फलों का उपभोक्ता फला जीवात्मा है। जैसे जय और पराजय होती तो युद्ध करने वाले सैनिकों की है। किन्तु वह जय पराजय मानी जाती है उनके स्वामी की यद्यपि उनका वह स्वामी राजा लड़ाई करने नहीं आया किन्तु जय या पराजय होने पर कहा यही जाता है कि फलां राजा की हार हो गई या जीत हो गयी। अब यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है। बहुत से कैवल्य भागी लोग क्लेश कर्म आदि बन्धनों से छूटे हुये होते हैं। क्या उनको ईश्वर कहा जा सकता हैं अन्यथा नहीं। उत्तर- नहीं! क्योंकि वे सब लोग क्लेश कर्म आदि के तीनों बन्धनों को काटकर मुक्तात्मा बने हैं। और ईश्वर के साथ इन तीनों बन्धनों का सम्बन्ध न पहले कभी था और न कभी आगे होगा। मुक्त आत्मा वही कहलाते हैं जो पहले बन्धन में थे। और प्रकृति लोगों को भी बाद में जन्म-मरण का सम्बन्ध बना रहता है। और ईश्वर के साथ इन्हीं सभी प्रकार का सम्बन्ध न पहले कभी था और न ही आगे होगा। और निकृष्ट ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है उसका आधार शास्त्र है। और शास्त्र का आधार सदा ईश्वर है। ये सम्बन्ध परस्पर आधारित है। ईश्वर का ऐवर्श्य सबसे बड़ा ऐश्वर्य है क्योंकि किसी एक ही वस्तु के विषय में कोई एक व्यक्ति कहता है कि ये वस्तु नयी हो जाये। दूसरा कहता है नहीं ये वस्तु पुरानी ही रहनी चाहिए एक ही वस्तु के विषय में दो व्यक्ति विभिन्न प्रकार की कामना करते हैं। उनमें से एक ही की कामना पूर्ण होगी दूसरे की नहीं इसलिये जिसका ऐश्वर्य सबसे बड़ा है वही ईश्वर कहलाता है। एवं वही ईश्वर सबसे बड़ा सर्वज्ञ है। व्यास-भार्षय की ये पंक्तियें यह सिद्ध करती हैं कि यद्यपि ईश्वर का ऐश्वर्य सबसे बड़ा अवश्य है किन्तु अन्य योगी लोग भी जो मुक्तात्मा हो चुके हैं एवं सभी प्रकार के बंधनों से छूट चुके हैं वे भी सभी सर्वज्ञातित्व शक्तिमुक्त सामर्थ्यवान अवश्य हैं। इसलिये आत्मा और परमात्मा का भेद है वह यही कि वह ईश्वर परम आत्मा है और यह आत्मा है। एक अभ्यास करने वाला योगी पूरे-पूरे पुरुषार्थ के साथ हृदय ग्रन्थि का विभेदन करके सभी प्रकार के क्लेश बन्धनों से मुक्त होकर अपने आपको उस सर्व व्यापक सत्ता में विलीन कर सकता है। और प्रकृति पर अपना पूरा-पूरा अधिकार पाकर उसको अपनी आज्ञा के बन्धन में बांध सकता है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सभी व्यक्तियों को उपरोक्त शास्त्रीय विचार भली प्रकार से समझ लेनी चाहिये।

**सर्वे भवतु सुखिना**
**सर्वे सन्तु निरामया।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा**
**कश्चिद् दुःख भाग भवेत्।।**

# वैराग्य के दो रूपक

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

मनुष्य के मन में पूर्ण वैराग्य कैसे पैदा हो— इसके लिए ऊपर लिखे लेख के अनुसार साधक को अपना अभ्यास क्रम अवश्य-अवश्य बनाना चाहिए। जब तक साधक के मन में अन्तर जाग्रति नहीं होगी, तब तक इन्द्रियों को बाह्य विकारों से निकाल लेना सहज बात नहीं है। भगवान पतंजलिदेव ने योग दर्शन में वैराग्य के दो रूपों का वर्णन किया है। पहला वशीकार संज्ञा वैराग्य एवं दूसरा विवेक ख्याति रूप वैराग्य। उनमें से पहले वशीकार संज्ञा वैराग्य रूप को भगवान श्री पतंजलिदेव ने इस प्रकार समझाया है—

**दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**

अर्थात् देखे हुए और सुने हुए दो प्रकार के विषय हुआ करते हैं। देखे हुए विषयों में और सुने हुए विषयों में जो व्यक्ति दृढ़तापूर्वक अपने अभ्यास के बल से अपनी वासनिक तृष्णा को मार लेता है, वह वशीकार संज्ञा वैराग्य की परा स्थिति को अवश्य पा जाता है। इस सूत्र पर भगवान श्री व्यासदेव जी के भाष्य की निम्नांकित पंक्तियाँ पढ़िये—

**स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमितिदृष्टाविषय विनृष्णस्य स्वर्ग-वैदह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्ता वानुश्रविकविषये वितृष्णास्य दिव्या-दिव्य विषयसंप्रयोगेपि चितस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसख्यानब-लादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**

अर्थात् देखे हुये विषयों में सबसे पहला आकर्षण स्त्रियों का रहता है। इनका रूप लावण्य शरीर के अंग-प्रत्यंगों की रचना एवं सुन्दरता साधक के मन को आकर्षित करने का मोटा साधन रहता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जिस प्रकार के अन्न का सेवन करता है और इस आदि का पान करता है, उस ही प्रकार का उसकी बुद्धि में उपक्रम बढ़ जाता एवं भाव-जाग्रति हो जाती है। इन्हीं साधना को पाकर मनुष्य बाह्य आकर्षणों में फँसकर पतन की ओर चला जाया करता है। साधक यदि अपने अभ्यास को नियमित रूप से नियमानुसार करता रहता है और साधन क्रम को ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी के बतलाये हुये क्रम में बांध लेता है, तो स्त्री, अन्नपान आदि देखे हुये विषयों पर अधिकार पा लेता है।

इसके अतिरिक्त दूसरा बासना जाल वह है जिसके विषय में इन्द्रलोकादि के वासनिक भोगों का वर्णन हम इतिहास एवं पुराण आदि में सुनते पढ़ते रहते हैं। यह सारे के सारे विषय अनुश्रविक होते हैं। जिनको सुन-सुन करके मनुष्य का मन स्वर्ग आदि लोक-लोकान्तरों की ओर आकर्षित होता रहता है, किन्तु साधक यदि अन्तर्जगत में प्रवेश करके इन विषयों पर नियन्त्रण करना चाहेगा तो अवश्य ऐसा कर लेगा। एक और भी स्थिति यह आती है कि साधक के रास्ते में अन्तराय भी अधिक आते ही रहते हैं। किन्तु जो लोग अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाते हैं और जो लोग अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाते हैं और जो गुरुदेव जी के कृपापात्र रहते हैं वे भी अपने आप पर उस आत्मिक तेज के प्रभाव से अधिकार पा जाया करते हैं। पर ऐसे आकर्षण भी उस व्यक्ति को विचलित करते हैं जो पहले दृष्ट भोगों का उपभोक्ता बन चुका होता है। जो साधक ब्रह्मचर्य आश्रम से ही पूर्ण ब्रह्मचारी है और वासना के दर्शन जिसने किये ही नहीं हैं वह इन सभी जालों को काट डालता है।

साधारणतया योगी जब वितर्कानुगत समाधि से ऊपर उठता है और विचारानुगत योग में प्रवेश करता है तो उसको अनुश्रविक विषय दृष्टिगत होने लगते हैं। इन विषयों से बचकर पूर्ण गुरु-भक्त एवं पूर्णरूपेण आज्ञा पालक बच्चा ही जय पा सकता है। अन्यथा विचलित हो जाने की सम्भावना बराबर बनी रहा करती है। योग-दर्शन का एक सूत्र है कि—

**स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।**

अर्थात् लोकाधिपति लोग जब योगी को अपने लोक के वासनिक दृश्य दिखाकर उस लोक की तरफ आकर्षित करें तो उनकी बात मान करके न तो उनका सग करना चाहिए और न ही अहंकार करना चाहिए। अहंकृति आने पर योगी का पतन हो जाया करता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने जो भाष्य लिखा है वह भी मनन करने योग्य है—

**चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथम कल्किो मथुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्त भायनीयश्चेति तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र ज्योतिः प्रथमः ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थों यस्त्वतिक्रान्तभावनी यस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधानस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा।**

**तत्र मधुमतीं भूमि साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्वशुद्धिमनु पश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या**

**मन्दाकिनी सिद्धा सहर्षयः उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः रवगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षेयम जरममरस्थानादेवानां प्रियमिति एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत्। घोरेषु संसारागारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयषायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्ध कुर्यामिति स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इतयेवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।**

**सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादिवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युगा देशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्र न्नरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनर्निष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वंतो भवितोऽर्थो दृढ़ो भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति।**

अर्थात् योगियों की चार श्रेणियाँ होती हैं— (१) कल्पिक, (२) मधुमूमिक, (३) प्रज्ञा ज्योति, (४) अतिक्रान्त भावनीय। पहला योगी प्रवृत्त मार्ग ज्योति और दूसरा ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला, तीसरा भूतेन्द्रजयी और चौथा योगी वह कहलाता है जो अपनी भावित भावनीय पदार्थों में पूरा अधिकार प्राप्त कर लेता है।

इन सभी भूमियों का क्रमशः साक्षात्कार करता हुआ योगी आगे बढ़ता है, तो लोकाभिमानी देवता उसकी पूर्ण सत्व शुद्धि को देख करके अपने-अपने लोक के लिए निमन्त्रित करते हैं और प्रार्थना करके उससे कहते हैं कि आप यहाँ बैठ जाइये! देखो यहाँ बड़े-बड़े उत्तम भोग हैं। बहुत ही सुन्दर यह कन्या है जो आपकी प्रतीक्षा में है, यह बहुत ही सुन्दर रसायन है जो बुढ़ापे और मौत को नहीं आने देगी। यह बहुत सुन्दर यान है जो आकाश में उड़ता है। यह बड़े सुन्दर कल्प वृक्ष हैं एवं बहुत ही पुण्य स्वरूपा मन्दाकिनी गंगा बह रही है। इधर यह सिद्ध एवं महर्षि लोग हैं। यह देखिये दह बहुत ही सुन्दर और उत्तम मनोनुकूल चलने वाली दिव्य अप्सरायें हैं। यहाँ पर तुम्हारे कान भी दिव्य होंगे जो दूर-दूर की बातें सुनेंगे और आँखें की दिव्य होंगी जो दूर-दूर की देखेगी और शरीर तुम्हारा वज्र जैसा रहेगा। देलो ऐसे लोग बड़े भाग्य से मिलते हैं। इसलिए यह उत्तम स्वर्ग सुख तुमने तीव्रतम तप एवं योग समाधि के द्वारा प्राप्त किया है, अब और कहीं जाने की इच्छा करना चाहिये, आप यहीं रहो। देवता लोग उस अतिक्रान्त भावनीय योगी के बढ़ते हुए तेज को देख करके बहुत ही विनम्र प्रार्थनायें करते हैं, किन्तु योगी को उन लोगों की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिये और जब वे लोग स्वर्ग लोक के विविध लोभ दिखलायें, तब उन भोगों की ओर मन को आकर्षित नहीं होने देना चाहिए। देवताओं की इस अभ्यर्थनाओं पर यदि योगी का मन दैविक भोगों में आकर्षित होता है, तो अवश्य ही उसका पतन हो जाता है और उस योगी की अतिक्रान्त भावनीय सम्प्रज्ञात योग की उत्तमोत्तम स्थिति जाती रहती है। स्वर्ग लोक की प्राप्ति भी तभी हो सकती है, जबकि मनुष्य लोक में रहता हुआ पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अपनी साधना अभ्यास को उत्तमता के साथ बढ़ाता चला जाय। कदाचित् योगी स्वर्गीय सुन्दर दृश्यों को देखकर उनको प्राप्त करने की इच्छा करता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर पहले तो देवता लोग मनुष्य लोकों के भोगों में ही उसका मन आकर्षित करके उसको यहीं पर गिरा देते हैं। स्वर्गलोक-देवलोक तक पहुँचने भी नहीं देते। कदाचित पहुँच भी जाये तो लाखों करोड़ों वर्ष का लंबा समय उसका वहाँ स्वर्गलोक के भोगों में ही समाप्त हो जाता है और वह उसका योग समाधि से एक प्रकार का पतन सा ही हो जाता है।

योगाभ्यासियों को स्वर्गीय भोग एक प्रकार से दण्डरूप ही होते हैं। जो अभ्यासी योगाभ्यासी करते हुए मन में पूर्ण वैराग्य धारण करके पूर्ण जितेन्द्रियता से अपने अभ्यास को बढ़ाते हैं वह बहुत जल्दी योग-समाधि को पाकर सिद्ध हो जाया करते हैं अन्यथा उनका यत्किंचित भी मन विचलित होता है तो वह लोग स्वर्गीय बन जाते हैं। अखिल लोकनायक, कालचक्र, युगचक्र और जगचक्र को चलाने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवत गीता में अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है कि कदाचित योगी का मन योग से विचलित हो जाय तो उत्तमोत्तम स्वर्गलोक में उसकी सहज उपलब्धि करते हैं, किन्तु योगी को सावधान रहना चाहिए, क्योंकि देवताओं के इस प्रलोभन में योगी आ गया तो जन्म-मरण आदि के अनिष्टों में फिर फँस जायेगा। एक सावधानी और रखना चाहिए कि साधक के मन में यह अभिमान भी नहीं होना चाहिए कि अब तो मैं देवताओं का भी पूज्य हो गया हूँ। ऐसी धारणा कर लेने पर भी योगी, के लिए अनिष्ट की सम्भावना करती है। ऐसी स्थिति में उसको काल भय रहता है। अतः योगी को दोनों प्रकार की इन भावनाओं से बच के रहना चाहिए।

एक उदाहरण आज से लगभग ४० वर्ष पहले हमारे आश्रम में एक साधक आया था, उसका नाम रमणीगिरि था। जिस समय आश्रम में उसने योगाभ्यास की दीक्षा ली तो श्री आनंदकन्द प्रभुजी की अपार करुण-कृपा से उसको सम्प्रज्ञात योग में उत्तमोत्तम स्थिति प्राप्त हुई और ज्योंही वह अतिक्रान्त भावनीय स्थिति को प्राप्त हुआ तो स्वर्गादि लोक लोकान्तर दीखने लगे। परिणाम यह निकला कि स्वर्गलोक के इस प्रकार के आकर्षक दृश्यों को देख करके उनकी ओर उसका मन आकर्षित हो गया। उसकी ध्यान-स्थिति को सुनकर एवं स्वर्गीय आकषणों की बात को जान कर उसको आज्ञा दी कि तुम इन प्रलोभनों में मत पड़ो एवं अपने इष्टदेव का ध्यान करो। स्वर्गीय दृश्यों की तरफ आर्षित मत होओ। इतनी गुरु आज्ञा को पाकर भी वह अपने आपको नहीं सम्भाल सका। आश्रम में

बिना ही बताये चुपचाप चला गया और वृन्दावन के पास कुसुम सरोवर के आस पास के जङ्गलों में कहीं बैठ गया। उसको देवताओं ने प्रलोभन दिया था कि तुम कहीं जङ्गल में रहकर दो या तीन दिन की तपश्चर्या करो, तब तुम दिव्य विमान से स्वर्गलोक में आ जाओगे। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, उसने बाद में हमें यह सब बातें बतलाईं। पश्चात् स्वर्गलोक की अपेक्षा वह मनुष्य लोक की किसी वासनिक स्थिति में फँस गया, कोई विमान नहीं आया। इस प्रकार उसने अपने आपको गिरा लिया। इसलिए साधक को चाहिये कि आँखों से देखे हुए लौकिक और कानों से सुने हुये स्वर्गादिक विषयों से बिल्कुल सावधान रहे, तभी उसका आत्मिक उत्थान हो सकता है।

अभ्यास करता हुआ योगी जब ध्यानयोग की पराकाष्ठा को पहुँचता है, जितेन्द्रियता के साथ बढ़ते हुए सम्प्रज्ञात योग की चौथी श्रेणी अस्मितागत समाधि को प्राप्त हो जाता है। उस समाधि में स्थित योगी अखंड-मण्डलाकार निर्गुण निराकार व्यापक सत्ता में अपने आपको विलीन देखता है। इस स्थिति में उसको केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का ही ज्ञान रहता है। विवेक ख्याति पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है और उस विवेक ख्याति में समाधिस्थ योगी 'अस्मि-अस्मि अहमेवास्मि' इसी बुद्धि वृत्ति को देखता है, थोड़े समय के बाद यह बुद्धि ऋत को धारण कर लेती है। ऋतको धारण कर लेने के बाद इस ही बुद्धिवृत्ति का नाम अस्मि प्रत्यय बन जाता है। इस अस्मि प्रत्यय के उदय हो जाने के बाद ऋत का वास हो जाता है। वह जो कुछ सोचता है सत्य सोचता है, जो कुछ करता है सत्य करता है। सत्य के अतिरिक्त वहाँ पर कोई और विपरीत संस्कार पैदा ही नहीं होता।

**तज्जः संस्कारोऽन्यसस्कारप्रतिबधी।**

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा पैदा होने के बाद अन्य संस्कार खत्म हो जाते हैं। इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ पढ़िये—

**समाधि प्रज्ञाप्रभवः व्युत्थानसंस्काराशंशा बाधते व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवा प्रत्यया न भवन्ति। प्रत्यय निरोध समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवो संस्काराशयो जायते। ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्कारातिशयश्चितं साधिकारं न करिष्यतीति न ते प्रज्ञाकृताः संस्कारा क्शेशक्षये हेतुत्वात् चित्तमधिकार विशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसायन्ति। ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति।**

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के पैदा हो जाने के पश्चात् और कोई संस्कार पैदा नहीं होता। केवलमात्र ऋतम्भरा के ही संस्कार रहते हैं। चित्त की चेष्टायें यहाँ पर जाकर शाँत हो जाया करती हैं और ज्यों-ज्यों मनुष्य इस समाधि प्रज्ञा को पाकर अस्मि प्रत्यय में अवस्थिति रहता है, वह अस्मिप्रत्यय भी ख्याति पर्यवसान है। अस्मि-अस्मि यह वृत्तिनिर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहलाती है। यहाँ आ करके ही साधक को पर-वैराग्य की प्राप्ति होती है। जिसका लक्षण भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार लिखा है—

**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।**

इस पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

**दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासाच्चित्तशुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तद्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये सत्ति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः क्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्या विच्छेदात् जनित्वा भ्रियये मृत्वा च जायत इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठ वैराग्यम् हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।**

अर्थात् देखे और सुने विषयों से विरक्त साधक व्यक्ताव्यक्त धर्म वाले गुणाधिकार से परे हो जाता है तब ज्ञान के परमोदय हो जाने के बाद साधक इस प्रकार से मानता है कि जो पाना चाहिए था वह मैंने प्राप्त कर लिया है। पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ संस्कार चक्र काट दिया है।

यह स्थिति इस प्रकार की है जिसको मोक्ष स्वरूप वाली हो कहा जा सकता है। इसमें अस्मि प्रत्यय वाली निर्माणोन्मुखी वृत्ति ही काम करती रहती है, किन्तु निरन्तर अभ्यास के बाद पूर्ण हो जाने के बाद यह वृत्ति भी उस ही प्रकार खत्म हो जाती है, जैसे अग्नि की चिन्गारी सूखे ईंधन को जला कर भस्म कर देती है और उसके बाद वह स्वयं भी समाप्त हो जाया करती है। यह अस्मि प्रत्यय साधक का पिछला प्रत्यय है। भगवान पतंजलिदेव जी लिखते हैं—

**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निबीजः समाधिः**

अर्थात् इस वृत्ति के रुक जाने के बाद अन्य किसी भी वृत्ति का उदय नहीं होता और इसका निरन्तर अभ्यास साधक अन्त में निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाया करता है। व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

**स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानानापि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति। कस्माद्निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधतीति। निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसस्कारास्तित्वमनुमेयम् व्युत्थान निरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्ते स्वस्यां प्रकृतावस्थितायां प्रविलीयते। तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतबो भवन्तीति। यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते तस्मिन्निवृते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽत युद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते।**

अर्थात् इस प्रत्यय के उदय हो जाने के बाद साधक पूर्णरूपेण निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है। जिसमें पहुँचकर फिर कुछ भी करना अवशेष नहीं रहता, इसी का नाम केवली भाव है। इसी के लिए योगी लोग प्रयत्नशील रहते हैं। प्रत्युदित ख्यातिरूप यह वैराग्य पर वैराग्य है। यहाँ आ करके मनुष्य की सभी वृत्तियाँ पूर्ण शान्त हो जाती हैं और मनुष्य पूर्ण निरोधकों पा जाया करता है।

# अन्तराय और उनके सहभुव

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

योग-भूमिकाओं में जब योग-साधक शनैः शनैः आगे बढ़ने लगता है तब उसके मार्ग में कुछ ऐसे विघ्न आ जाया करते हैं, जिनसे उसके आगे बढ़ने की गति में रुकावट आ जाया करती है। योग की भाषा में मार्ग-विरोधक इन विघ्नों को अन्तराय और विक्षेप कहकर इंगित किया गया है। प्रत्येक योग साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह योग-मार्ग में आने वाले अन्तराय और विक्षेपों के स्वरूप को समझे और सतत् जागरूक रहकर इनसे बचने का प्रयत्न करता रहे।

योग-दर्शन के समाधि पाद के ३० वें सूत्र में अन्तरायों का और ३१ वें सूत्र में विक्षेपों का जो नवधा अन्तरायों के ही सहभुव यानी सहकारी व साथी हैं— का उल्लेख किया गया है। अन्तराय और विक्षेप- सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इनमें नाम-भेद भले हो हो, पर गुण धर्म के नाते से ये सब एक ही हैं। कार्य भी इनका एक जैसा ही- यह रहता है कि ये सब मिलकर अथवा एक-दूसरे का सहयोग करके योगी को साधना-मार्ग में आगे बढ़ने से रोक देते हैं और यदि इन्हें प्रयत्नपूर्वक हटाया न जाय तो उसे चारों खाने ऐसा चित्त लिटा देते हैं कि फिर उसको सम्हल कर उठ खड़ा होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इसलिये प्रत्येक जागरूक योग-साधक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इनके स्वरूप और गुण धर्म को ठीक-ठीक समझे और समझ कर इनके समूलोन्मूलन का ऐसा सद् प्रयत्न करे जिससे इनका अस्तित्व साधक के मार्ग में बाधक न बने।

महर्षि पतञ्जलि जी ने इन अन्तरायों के नानारूप का परिचय, जो संख्या में ९ हैं योग-दर्शन के ३० वें सूत्र में इस प्रकार दिया है—

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।**

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व, चित्त-विक्षेप ये नवधा अन्तराय या विघ्न हैं योग-मार्ग के।

इन विघ्नों का आश्रय मनुष्य की अन्तर इन्द्रिय रजोगुण प्रधान चित्त ही रहता है।

इन्हें अन्तराय कहा जाता है। इसलिये कि ये साधक की सिद्धि में अन्त या भेद पैद करते हैं, रुकावट डालते हैं। भगवान व्यासदेव जी इस सूत्र पर अपनी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

**नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपायः। मर्हते चित्तवृत्तिर्भिवस्त्येतेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्ततृत्तयः व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्म्मयता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य गुरुत्वाद्प्रवृत्तिः अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा वर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनंविपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्या प्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति तद्भवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयते।**

अर्थात् व्याधि उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और रस के बिगड़ने से शरीर में विकलता होती है। स्त्यान उस विघ्न को कहते हैं जिससे चित्त कर्म रहित होने की इच्छा करता है। संशय उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी कहे यह ठीक है, कभी कहे दूसरा ठीक है। योग के साधन अर्थात् उपायों को चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते हैं जो शरीर या चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाता है। अविरति उस वृत्ति को कहते हैं जिसमें चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित या प्रलोभित कर देता है। विपरीत अर्थात् उल्टे ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। अलब्ध भूमिकत्व उसे कहते हैं जिससे समाधि की भूमि की प्राप्ती नहीं होती। अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्त की स्थिति नहीं होती। समाधि के प्राप्त होने पर चित्त स्थिर हो जाता है। यह संख्या में ६ चित्त-विक्षेप योग के अवरोधक हैं। योग के शुत्र यही योगान्तराय या योग के विघ्न कहलाते हैं।

चित्त के विक्षेप स्वयं योग के विघ्न नहीं हैं, किन्तु चित्तवृत्तियों के साथ मिलकर विघ्नकारक होते हैं और वृत्तियों के अभाव में बाधक नहीं हो सकते।

इन उपर्युक्त नौ अन्तरायों के उल्लेख के बाद महर्षि पतंजलिदेव ने इसी समाधि पाद के सूत्र संख्या ३१ में इनके सहभुव यानी सहकारी प्रतिबन्धकों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

**दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वास विक्षेपसहभुवः।**

अर्थात् दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पांच भी अन्तरायों के सहयोगी बनकर योगी के साधना-मार्ग में और अधिक

रुकावट तथा बाधायें उपस्थित करने लगते हैं। इसलिये योग की भाषा में इन्हें विक्षेप-सहभुव की संज्ञा दी गई है।

इनके रूप का परिचय अधिक स्पष्टता से इस प्रकार समझा जा सकता है।

दु:ख-उस पीड़ा अथवा वेदना को कहते हैं जिनके उपस्थित होने पर मनुष्य उसका नाश करने के लिये प्रयत्नशील हो उठता है। यह दु:ख आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन वर्गों में बँटा होता है।

**दौर्मनस्य-** उस मानसिक क्षोभ को कहते हैं जो मानसिक इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में कुभाव के रूप में बना रहता है।

**अङ्गमेजयत्व-** कहते हैं- शरीर अथवा शरीर के अंगों में कम्पन यानी कांपने के दोष के आ जाने को।

**श्वास-** बिना इच्छा के नासिका द्वारा बाहर के वायु के भीतर जाने को कहते हैं।

**प्रश्वास-** बिना इच्छा के नासिक द्वारा भीतर वायु को बाहर निकल जाने को प्रश्वास कहा जाता है।

श्वास-प्रश्वास भी अमर्यादित होकर साधक के मार्ग में विघ्नकारक बन जाते हैं।

यह भी समझ लेने की जरूरत है कि ये अन्तराय और विक्षेप विक्षिप्त चित्त वालों पर ही अपना आक्रमण विशेष रूप से करते हैं। एकाग्र और दृढ़ चित्त वाले साधकों पर यह अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाते। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक साधक को अपना चित्त सात्विक भावनाओं, शिव-संकल्पों और वैराग्य की धारणा तथा एकतत्व की उपासना-प्रणव जप, ईश्वर प्रणिधान जैसे मार्ग का अवलम्बन लेकर उसे दृढ़तर और निर्विकार बनाने का प्रयास करते रहना चाहिये। निरन्तर स्वाध्यायशील बने रहना भी अन्तराय और विक्षेपों से बचे बहने का एक अच्छा साधन हो सकता है।

भगवान पतंजलिदेव जी ने इन अन्तराय और उनके सहभुवों से बचे रहने के लिये अथवा इनके प्रतिकार के लिये अपने योग-दर्शन के सूत्र संख्या १२ में कहा है—

**तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्वाभ्यास:**

अर्थात् विघ्नों के प्रतिषेध के लिये एक तत्वाभ्यास करना चाहिये। साधक जानना चाहेंगे कि एकतत्व क्या है और इसके अभ्यास की जरूरत क्यों पड़ी? योग-विशेषज्ञों के अनुसार पञ्चभूतों में से किसी भी एक भूत तत्व को ध्येय विषय बना कर निरन्तर उसका अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु ये सभी तत्व परिणामी होने से चित्त को एकाग्रता और दृढ़ता प्रदान नहीं कर सकते। केवल प्रत्यक् आत्मा अथवा ईश्वर ही ऐसा एकमात्र तत्व है, जिसमें कभी कोई विकार या परिणाम नहीं होता, सदा एकदम अपरिणामी बना रहता है। इसलिये एकमात्र प्रणव जप अथवा ईश्वर

प्रणिधान की प्रक्रिया ही ऐसे साधन हैं, जिनका आलम्बन ग्रहण करने से चित्त में एकाग्रता और स्थिरता एवं सात्विकता की गुण वृद्धि उत्तरोत्तर होकर समाधि सिद्धि की उपलब्धि को और साधक आगे बढ़ने लगता है।

इन प्रतिबन्धकों को चित्त भूमि से दूर बहुत दूर भगा देने के लिये एक और उपाय भगवान पतंजलिदेव ने यह भी बताया है कि चित्त में अगर प्रसादगुण का प्राबल्य होगा तो भी विक्षेप मल तथा अन्य विघ्न-जिनका जिक्र ऊपर आ चुका है वे तथा राग-द्वेष आदि उसे अपना आलम्बन नहीं बना सकेंगे। भगवान पतंजलि देव जी कह रहे हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:ख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

अर्थात् संसार के व्यवहारार्थ यदि साधक सुखी दु:खी पुण्यात्मा और पापात्मा समझ जाने वाले व्यक्तियों के प्रति यथा क्रम, मित्रता दया, हर्ष और उपेक्षा का अनुष्ठान या बर्ताव करता रहेगा तो चित्त प्रसन्न और दोष तथा मल विक्षेप आदि से रहित बना रहेगा।

यदि योग-साधक योग-दर्शन के इन उपर्युक्त सूत्रों को ध्यान में रखकर अपने योग-पथ में बढ़ते रहेंगे तो अन्यराय, विक्षेप और मल उनकी प्रगति में कुछ भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकेंगे।

## *अपने जीवन को दिव्य बनाइये*

स्वामी श्री कृष्णानन्द

प्रत्येक मनुष्य के मन में सुख की इच्छा रहती है। वह सर्वत्र अपनी प्रतिष्ठा चाहता है। अधिकांश लोगों की लालसा यही रहती है कि वे समाज में अग्रगण्य बनकर रहें। पर होता है प्राय: उल्टा ही। सुख के बदले दु:ख और मान के बदले अपमान ही मिलता है। धन और पद को पाकर मनुष्य अपने जीवन की महत्ता प्रकट करना चाहता है, पर यह है असम्भव है। धन से ही कोई महान् बनता होता तो डकैतों के पास भी धन तो है ही। पद तो दुष्ट राक्षसों को भी मिल जाता है। यदि वे आत्याचारी पुरुष चाहें तो सारे देव समाज को दबाकर उनके सम्राट बन जायें। यह स्मरणीय बात है कि इन्द्रियों की लोलुपता, दुष्ट आचरण, निषिद्ध वायं, हिंसा और असत्य के द्वारा सच्छी प्रतिष्ठा नहीं मिलती। अगर कहीं मिल भी जाय कुछ ही समय के लिए। इससे पश्चात् उन्हें नीचा ही देखना पड़ता है। आसुरी मानव का उत्थान हुआ ही कब है? विजय तो सदा देवताओं की ही होती आई है।

# ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि सिद्धि

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

इससे पहले हम अपने पूर्व लेखों में यह कई बार समझा चुके हैं कि मनुष्य जन्म के कल्याण के लिये योग के द्वारा समाधि रूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करना मनुष्य का पहला कर्तव्य है और समाधि प्राप्ति के वर्णित साधनों में साधन योग और सिद्ध योग अपना अलग स्थान रखते हैं। साधन योग के विषय में 'समाधि सिद्धि के लिये छ: अचूक साधन' नामक लेख इससे पहले लिख चुके हैं, किन्तु वह सारा विषय साधना से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। योग-दर्शन के समाधि पाद में भगवान् पतंजलिदेव जी ने जहाँ अन्यान्य साधनों का जिक्र किया है, वहाँ पर यह भी कह दिया कि—

**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**

अर्थात् ईश्वर की भक्ति से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इस पर पढ़िए व्यास भाष्य—

**प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वर स्तमनुगृहणात्य-भिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतम: समाधि लाभ: समाधिफलं च भवतीति।**

अर्थात् भक्ति विशेष से अर्जित किया हुआ ईश्वर साधक पर कृपा करता है कि इसको समाधि की प्राप्ति हो जाय और ईश्वर के ऐसा संकल्प करने पर साधक को अवश्य ही समाधि की प्राप्ति एवं समाधि का फल प्राप्त हो जाया करता है, क्योंकि ईश्वर आदि महा सिद्ध है। सिद्धों के और आदि महा सिद्ध ईश्वर के संकल्प होने पर साधक को किसी दूसरी साधना की आवश्यकता नहीं रहती। अनायास ही किसी प्रकार के प्रयत्न विशेष के विना ही उसको समाधि सिद्धि हो जाया करती है। इसके विषय में भक्तों के इतिहास में बहुत बड़े -बड़े प्रमाणित प्रमाण हैं। आम संसार के लोग जो इन सिद्धान्तों को नहीं जानते और न समझते हैं, इसी कारण से ऐसे लोग योग के दायरे को एक सीमित दायरा समझते हैं। अधिकतर वे लोग यह जानते हैं कि जो कोई व्यक्ति कुछ आसन आदि करना जानता है बस, वही योगी है। उन लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि अष्टांग योग की साधना में ईश्वर प्रणिधान भी योग ही है। इस योग को हमारी शास्त्रीय परिभाषा में सिद्धयोग कहा गया है। जिस प्रकार से हिमालय में रहने वाले योगी लोग शरणागत साधकों पर केवल कृपा करते हैं और उनकी उस कृपा के फल स्वरूप ही उनको समाधि लाभ हो जाता है। किसी भी प्रकार की अन्य साधना करने की उनको आवश्यकता नहीं होती। केवल सिद्धों की कृपा मात्र से वे लोग भी सिद्ध हो जाते हैं। ईश्वर की कृपा से सभी कुछ सुलभ हो सकता है। भगवान् पतंजलिदेव ने ईश्वरप्रणिधानाद्वा यह सूत्र कह करके यह संकेत कर दिया कि ईश्वर की कृपा से भी समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

योग-दर्शन में अभी तक प्रकृति पुरुष का वर्णन किया था और उसमें यह दिखलाया था कि बुद्धि और पुरुष का परस्पर मेल ही अस्मिता नाम का क्लेश हे। इन सभी क्लेशों की निवृत्ति मनुष्य को तभी हो सकती है, जबकि वे अपने आपको केवलीभाव में ले जाएँ, प्रकृति अपने स्वरूप में चली जाये। अर्थात् गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाय और पुरुष जीवात्मा अपने माया रहित शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाय, यही प्रकृति और पुरुष दोनों का केवली भाव है। कैवल्य की परिभाषा लिखते हुए भगवान् पतंजलिदेव जी ने यह स्पष्ट उल्लेख कर भी दिया है कि—

**सत्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।**

अर्थात् जहाँ प्रकृति अपने स्वरूप में चली जाय और पुरुष जीवात्मा अपने स्वरूप में चला जाय, यही दोनों का केवल भाव है। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए महर्षि भगवान् पतंजलि जी महाराज ने प्रकृति और पुरुष के शुद्धि साम्य के लिए विविध प्रकार के साधनों का प्रयोग किया, किन्तु यह सब कुछ कहने के बाद उन्होंने 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यह सूत्र कह करके ईश्वर की कृपा से भी समाधि सिद्ध हो सकती है ऐसा कह दिया है। श्री पतंजलि जी महाराज के इन शब्दों को सुनकर श्रोताओं ने कहा कि—

**प्रधान पुरुष व्यतिरिक्त: कोऽयं ईश्वरोनाम इति।**

अर्थात् प्रकृति और पुरुष से भिन्न यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु कहाँ से आ गई और इसका लक्षण क्या है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीपतंजलिदेव जी महाराज ने ईश्वर का स्वरूप समझाते हुए निम्नांकित सूत्र का निर्देशन किया—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष: ईश्वर:।**

अर्थात् जो क्लेश-कर्म विपाक आदि से बिल्कुल अपरामिष्ट है, उसको ईश्वर कहते हैं। जीवात्मा के साथ क्लेश-कर्म विपाक आदि हमेशा लगे रहते हैं, किन्तु परमात्मा के साथ यह क्लेश-कर्म विपाक आदि न कभी थे द्यौर न अब हैं और न कभी आगे होंगे। इस लिए ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है। पुरुष विशेष कहने का अभिप्राय है कि पुरुषों के बहुत बड़े समुदाय के अन्दर किसी खास व्यक्ति को बुलाने के लिये यह कह दिया जाय कि अमुक नाम के सफेद दुपट्टेवाले खास आदमी को बुला लाओ जो सबका नेता है। ऐसे शब्द कहने से उसी खास आदमी की विशेषता प्रकट हो गई। इसी प्रकार ईश्वर को पुरुष विशेष कहने से और क्लेश-कर्म विषाक आदि से अपरामृष्ट रहने के कारण उस परम पुरुष परमात्मा की विशेषता स्वत: ही प्रकट ही गई। जीवात्मा व परमात्मा में

अन्तर है तो केवल इतना ही है कि जीवात्मा बौद्धेय सम्बन्ध के कारण सदा से बद्ध चला आया है और ईश्वर की वद्ध कोटि न कभी पहले थी और न अब है और न कभी आगे होगी। यद्यपि जीवात्मा भी बद्ध कोटि से निकल जाने के बाद शुद्ध और अनन्त है। शुद्ध अनंत और विकार रहित है, यही उसकी मुक्तावस्था है। इसलिये ईश्वर अनादि महासिद्ध है और सदा सर्वदा ही बन्धन कोटि से परे है और प्रकर्ष गति से सदा सर्वदा से सिद्ध है। जिस प्रकार हिमालयवासी अन्य सिद्ध-योगेश्वर शरणागत पुण्यात्मा प्राणियों को अपनी कृपा के द्वारा शक्ति-संचार करा करके कैवल्य लाभ कराया करते हैं। इसी प्रकार से वह परमात्मा भी जहाँ-जहाँ जिस व्यक्ति पर ऐसा अनुग्रह करता है तो उसको अवश्य ही समाधि की प्राप्ति हो जाया करती है। संसार में ईश्वर की कृपा को प्राप्त कर समाधि लाभ प्राप्त करने वाले अनेकानेक भक्त आत्माओं के उदाहरण हैं।

हमने अपने पिछले लेखों में यह कई जगह पर संकेत किया है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सबके सब आदि महा सिद्ध और क्लेश-कर्म विपाक आदि से सदा सर्वदा विमुक्त ईश्वर हैं। इन लोगों का अपना कोई भी कर्तव्य अवशेष नहीं है। केवलमात्र प्राणियों के भले के लिए और उनको अपना अनुग्रह भोजन बनाने के लिए परमात्मा की अपनी सत्ता है। ईश्वर के अनुग्रह से जिज्ञासु जीवात्माओं को समाधि लाभ हुआ करता है। यह योग मार्ग से अनभिज्ञ साधारण लोगों की भावनायें रहा करती हैं। कहीं पर कोई योग विषयक चर्चा चलती है तो यह लोग बहुत जल्दी कह दिया करते हैं कि बतलाइये गोपियों ने कब योग किया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कौनसी योग साधना की। नरसी मेहता आदि भक्तों ने कब-कब समाधि लगाई। वस्तुत: इन लोगों के ये प्रश्न अनभिज्ञता के सूचक हैं। ये लोग योग के स्वरूप को एवं योग की सीमा को जानते ही नहीं हैं। वस्तुत: शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार तो गोस्वामी तुलसीदास ब्रज-गोपियाँ एवं नरसी मेहता आदि भक्तात्माओं से योग से ही कल्याण हुआ। इतना अवश्य कहना ही पड़ेगा कि यह सब लोग सिद्धयोग के विद्यार्थी थे। उस परम पुरुष परमात्मा के अनुग्रह को पाकर ही समाधि को प्राप्त हुए।

हमने पहले समझा दिया है कि जिस समय मनुष्य भीतरी जगत में प्रवेश करता है तो वह भक्त नहीं प्रत्युत योगी कहलाता है। जो मनुष्य अन्तर्दृश्य का द्रष्ट बन जाता है वह स्वत: ही समाधि भोजन बन जाता है, उसे योगी ही कहा जा सकता है, क्योंकि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हमारे ऋषि, मुनियों ने स्वयं स्वीकार किये हैं। अन्तर्दृष्यों का द्रष्टा बन जाना ही सम्प्रज्ञात योग का विद्यार्थी बनना है। सर्व समर्थ गुरुदेव आँखों से देखकर शक्तिपात करते हैं, वह दृग दीक्षा कहलाती है। हाथ से किसी के सिर पर स्पर्श करके आशीर्वाद देते हैं, वह स्पर्श दीक्षा कहलाती है। किसी को हृदय से प्यार करते हैं, वह हार्द दीक्षा कहलाती है। मन में किसी के लिए संकल्प करते हैं, वह संकल्प दीक्षा और मानस दीक्षा कहलाती है। परम पुरुष अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र ने भूतानुग्रह को ध्यान में रखकर ब्रज में प्रकट होकर लीलायें कीं और उन लीलाओं के अन्तर्गत ब्रज गोपियों पर अपने अतुलित प्यार से शक्ति संचार किया। इसके फलस्वरूप रास मण्डल में भगवान् के अन्तर्ध्यान हो जाने के बाद ब्रज गोपियों को भीतर की दुनिया में यह अनुभूतियाँ बराबर चलती रहीं और वे गोपियाँ यह कहती रहीं कि यह देखो श्याम— यह देखो श्याम, यहीं है श्याम और यह कहती-कहती वे लोग तदाकारकारित हो गई और भगवान श्रीकृष्ण की की हुई लीलाओं का अनुसरण करने लगीं यह उनकी समाधि ही थी। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास एवं नसी महता आदि भक्तात्मा भगवान् भूतभावन आशुतोष शंकर जी के अनुग्रह भाजन बने, जिससे उनको दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई। जो मनुष्य अन्तर्जगत का द्रष्टा प्राप्त हो गई। जो मनुष्य अन्तर्जगत का द्रष्टा बन जाता है उसके अन्दर अनायास ही शक्ति का समुच्चय हो जाया करता है। इसका फल यह निकलता है कि वह व्यक्ति जिसको जो कुछ कह दिया करता है उसका वह काम तत्काल हो जाया करता है। इसी का यह उदाहरण है कि बनारस में किसी के शव को जलाने को ले जाते हुए उसको गोस्वामी तुलसीदास जी ने उसकी सती साध्वी स्त्री को आशीर्वाद देकर मृत शव को जिन्दा कर दिया और वह स्त्री विधवा से सधवा हो गई। इसी प्रकार से भगवान् शंकर के परम अनुग्रह को पाकर नरसी मेहता के जीवन में चमत्कारिक घटनायें घटीं। उनकी धटनाओं को सभी लोग सभी प्रकार से जानते ही हैं। सोने की वर्षा होने यह केवलमात्र नरसी मेहता के जीवन में ही घटित हुई और इसका मूल कारण नरसी मेहता की कठिन तपस्या को देखकर भगवान् शंकर जी प्रशस्त होना और वरदान देना। जिसके फलस्वरूप नरसी मेहता को भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार प्रति क्षण बना रहने लगा था। यह सबकी सब घटनायें योग से ही संबन्ध रखने वाली घटनायें हैं। जो भक्त लोग ईश्वर के इस प्रकार अनुग्रह भाजन नहीं बन पाये हैं उनके जीवन में ऐसी कोई चमत्कारिक घटना भी घटित नहीं हो पाई। इसलिये हमने अपने इससे पिछले लेख के अन्दर समाधि प्राप्त करने के जितने साधनों का वर्णन किया, उन सबमें से, उत्कृष्टोत्कृष्ट साधन ईश्वर प्रणिधान ही है। योग-दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव जी बिल्कुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—

**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्धि होती है। इस पर पढ़िये व्यास भाष्य—

**ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितम-वितर्थं जानाति देशान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथा भूतं प्रजानातीति।**

अर्थात् जो परम पुरुष परमात्मा को सब प्रकार से आत्म समर्पण कर देते हैं, उनको ईश्वर की महान् अनुकम्पा से अवश्य ही समाधि सिद्धि हो जाया करती है और जो कुछ भी वह जानना चाहता है, अपने देश में दूसरे देश में, इस देह में या दूसरी देह में, इस समय या कालान्तर में सभी बातों का यथार्थ ज्ञाता हो जाया करता है। इसलिए हमने इससे पहले अपने लेख के अन्दर भगवान् पतंजलिदेव जी के बतलाये हुए छ: अचूक साधनों का वर्णन किया है। वे सारे के सारे साधन साधनालभ्य हैं, किन्तु ईश्वर प्रणिधान करने वाला व्यक्ति ईश्वरानुग्रह को प्राप्त करके समाधि सिद्धि को पा जाया करता है। समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर प्रणिधान एक उत्कृष्टोत्कृष्ट साधन है। सर्व साधारण के हित के लिए हमने इस सिद्धान्त को सरलता के साथ समझाने का प्रयत्न किया है, जिससे सभी लोग अनुपम लाभ उठा सकें।

# समाधि तथा संयम

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होती है। भगवान् पतञ्जलिदेव जी ने योग के जिन आठ अङ्गों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अङ्गों में से यदि साधक एक से भी विहीन हो जाता है तो योग का पूरा शरीर नहीं बनता वरन् वह अङ्गहीन कहलाता है। बहुत से लोग इस अष्टांग योग का सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य सीढ़ी के एक डण्डे पर पैर रखकर उसके बाद उसके दूसरे डण्डे पर पैर रखकर उसके बाद उसके दूसरे डण्डे पर पैर रखता है और बाद में तीसरे और चौथे पर। इस प्रकार क्रमश: पैर रखते-रखते वह मनुष्य अपने चरम लक्ष्य-भूत भवन की छत पर जा पहुँचता है, इसी को सोपान क्रम कहा जाता है। इसी प्रकार कोई-कोई व्यक्ति अष्टांग योग को भी इस सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। ये लोग इस बात को प्राय: कहते हैं कि जो पहले यम-नियमों का पालन नहीं करता और बाद में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का पालन नहीं करता वह पहले से ही आठवीं सीढ़ी— समाधि पर कैसे आरूढ़ हो सकेगा।

मेरे अपने विचार में अष्टाङ्ग योग को सोपान क्रम में सन्निहित करना विद्वान एव बुद्धिमान मनुष्यों का कार्य नहीं है। हमारे शरीर में हाथ, पैर, मुख, नासिका, कान और आँखें आदि भिन्न-भिन्न अंग और प्रत्यंग हैं। इनका हम सोपान क्रम से पालन करने का विचार करेंगे तो पहले हमें अपने पैरों की ही पालना करनी चाहिए, न कि मुख, कान, नासिका आदि की। क्योंकि मुख, कान, नासिका आदि-आदि सोपान क्रम के हिसाब से पैरों के पीछे पड़ते हैं। परन्तु यह बात सिद्धान्तानुकूल नहीं है, प्रत्युत बिल्कुल गलत एवं अर्थ शून्य सी है। जिस प्रकार से मनुष्य अपने मुख के द्वारा अन्न ग्रहण करता है और वह अन्न पक्वाशय में जाकर पक जाता है, तत्पश्चात् रस-रक्त आदि में बदल कर, वह सारे शरीर के अङ्गों और उपाङ्गों में व्यापक हो जाया करता है तथा इस रक्त रसादि के शरीर में व्याप्त हो जाने के बाद सारे शरीर की ही साङ्ग शरीर कहते हैं। इसी प्रकार से योग के अङ्गीभूत यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी अंगों के द्वारा योग शब्द की अभिव्यक्ति होती है और सभी अंगों का एक साथ पालन करना बनता है। जो लोग योगांगों को सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं वे भारी भूल पर हैं। इसलिए योग-साधना के जिज्ञासुओं को सभी अंग-प्रत्यंगों का एक साथ पालन करना चाहिए, तभी अष्टांग योग की पूरी पूरी साधना बन सकेगी। यह मैं पहले भी भली प्रकार से बता चुका हूँ कि योग के आठ अंगों में पाँच बहिरंग अंग और तीन अन्तरंग अंग माने जाते हैं। योग के पांच अंगों की साधना बहिर्मुखी वृत्ति रखते हुए भी साधक कर सकता है, किन्तु धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अन्तरंग अंगों का पालन साधक अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही भली प्रकार कर सकता है। इसलिये योग की वर्णाक्षरी धारणा से ही प्रारंभ होती है। योगदर्शन के कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में विभिन्न प्रकार की कुछ सिद्धियों का वर्णन है। सूत्र इस प्रकार है—

**जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा: सिद्धय:।**

इस सूत्र में जन्म से होने वाली सिद्धियों, औषधियों से होने वाली सिद्धियों, मन्त्र, तप और समाधि से होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। मनुष्य सिद्धियों को अनेक प्रकार से प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग की परिभाषा में महत्व समाधिजा सिद्धियों का ही है। समाधिजा सिद्धियां मन की सिद्धियां हैं, जो मनुष्य संसार में मन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है, उसको चाहिए कि वह योग के तीन अन्तरंग अंगों का दृढ़ता से पालन करना आरम्भ करें, ऐसा करने पर ही वह मनुष्य समाधि के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इन तीन अंगों में सबसे पहले अंग का नाम धारणा है। धारणा की परिभाषा बतलाते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन के विभूति पाद के पहले सूत्र में धारणा की परिभाषा इस प्रकार स्पष्टता के साथ बतला दी है—

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**

अर्थात् किसी एक लक्ष्य स्थान में अपने चित्त को एकाग्र करना धारण की साधना है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने धारणा का अर्थ करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं—

**नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।**

नाभि चक्र, हृदयकमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र आदि-आदि स्थानों में या किसी भी आध्यात्मिक विषय में चित्त का वृत्तिमात्रेण संस्थान धारणा कहलाती है। मनुष्य का अपने मन को तैजस बना करके विविध साधनाओं के द्वारा चित्त के राजस-तामस भावो को नष्ट करके उपरोक्त किसी विषय में चित्त का वृत्तिबन्ध से एकाग्र करना धारणा कहलाती है।

यही धारणा दृढ़ता के साथ अभ्यास की हुई ध्यान के रूप मैं परिवर्तित हो जाया करती है। हमारे शास्त्रों में उल्लेख है—

**प्राणायामेन पवनं,**
**प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।**
**वशीकृत्य ततः कुर्य्या-**
**चित्तस्थानं शुभाश्रये।।**

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वायु पर जय प्राप्त करके और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके फिर उसके बाद शुभ लक्षण चित्त को धारण में स्थापित करे। धारणा से पहले पवनाभ्यास एवं प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय की साधना इसलिये कही गई है ताकि मनुष्य का मन चित्त के राजस, तामस भावों को छोड़कर अपने लक्षीभूत धारणा में बिल्कुल अवस्थित हो जाये। अभ्यासी मनुष्य को कभी भी घबराना नहीं चाहिये। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह फल को ईश्वराधीन छोड़ करके अपने कर्तव्य पर दृढ़ता से आरूढ़ रहे।

इसी प्रकार की साधना को श्रीमद्भगवद् गीता में निष्काम कर्मयोग के रूप में वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं यह आदेश दिया है कि–

**कर्मण्येवाधिकारस्ते,**
**मा फलेषु कदाचन्।**
**मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा,**
**ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।**

अर्थात् हे अर्जुन! कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है, फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और यह भी नहीं होना चाहिये कि कर्मफल की अभिलाषा नहीं है, तो मनुष्य निकम्मा बनकर बैठ जाय। इसलिये धारणा का अभ्यास करने वाले व्यक्तियों के मन की उत्साहित करके दृढ़ता से अपने अभ्यास में लगाये रखना चाहिए। उत्साहपूर्वक एवं लगातार किया हुआ अभ्यास बहुत जल्दी ही अपने परिणाम दिखा दिया करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य धारणा का अभ्यासी बनेगा त्यों-त्यों उससे ऊँची भूमिका स्वतः ही उसने सामने प्रकट होने लग जायेगी। ध्यान की परिभाषा योग-दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव ने इस प्रकार बतायी है-

**तत्र प्रत्ययैकानता ध्यानम्।**

इस सूत्र पर व्यास भाष्य इस प्रकार है—

**तस्मिन देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकानता सदृशः प्रवाह प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।**

अर्थात् चित्त का ध्येय विषय में तब प्रकार के विषयों को छोड़ करके तेल धारावत् एकाग्र हो जाना ध्यान कहलाता है, इसी का नाम सदृश प्रवाह है। जब साधक अपने चित्त को इसी प्रकार से एकाग्र करता चला जाता है और पूर्व पुण्य प्रभाव से कोई भी किसी प्रकार का अन्तराय पैदा नहीं होता, तब यहीं चित्त अपने ध्येय में तदाकारित होकर अर्थमात्रेण भाषित होने लगता है। जिस समय चित्त ध्येय विषय में अपने आपको ध्येयाकार वाला बना लेता है तब इसी अवस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि कह करके परिभाषित किया है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं—

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

**ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययाऽत्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदां समाधिरित्युच्यते।**

अर्थात् यह ध्यान ही ध्येयाकार रूप में परिवर्तित होकर ध्येय रूप से भासित होने लगता है, इसी का नाम समाधि है और यह समाधि ही सभी अन्तरायों से बचकर संयम के रूप में बदल जाया करती है। इस समाधि का अभ्यास करने वाला योगी समाधिजा सिद्धियों का अधिकारी बन जाया करता है, तब जहाँ-जहाँ यह योगी संयम करता तब वहाँ-वहाँ की सिद्धियाँ इसको उपलब्ध होती रहती हैं। योग-दर्शन के विभूतिपाद में इन्हीं सिद्धियों का विशद रूप से वर्णन है। संयम की परिभाषा करते हुए भगवान् पतंजलिदेव जी ने कहा है—

**त्रयमेकत्र संयम;।**

अभ्यासी का अभ्यास इतना दृढ़ होना चाहिये कि उसके धारणा काल, ध्यान काल, समाधि काल— तीनों में उसके मन को विक्षिप्त करने वाला कोई भी अन्तराय पैदा न हो पावे, ऐसी स्थिति ही संयम की दृढ़ता कहलाती है। जब तक संयम सुदृढ़ नहीं हो जाता तब तक साधक समाधिज, सिद्धियों का अधिकारी नहीं बन पाता। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि हमारा चित्त परिणामी है और उसमें विभिन्न प्रकार के परिणाम इन्द्रिय-विषय संयोग से पल-पल में होते रहते हैं। आंख ने किसी रूप से देखा और हमारा परिणामी चित्त आंख का बल पाकर तुरन्त रूप विषयक बन गया। उसी समय कान ने किसी गम्भीर शब्द को सुना, चित्त ने रूप को तत्काल छोड़ दिया व वह चित्त कर्णेन्द्रिय से सम्बद्ध होकर शब्द विषयक बन गया। थोड़ी ही देर बाद पीछे से आकर किसी ने शरीर का स्पर्श किया तो परिणामी चित्त चटपट अपने शब्द विषय को छोड़कर स्पर्श की ओर भाग निकला और वह स्पर्श विषयक बन गया। इसी प्रकार से कहीं गन्ध को ग्रहण करता है, कहीं रस को भोगता है। क्षण-क्षण में इन्द्रियों के द्वारा आकर्षित हुआ चित्त विभिन्न परिणामों को प्राप्त होता रहता है इसलिये हमारा यह चित्त सर्वार्थक चित्त है। हमने अपने सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता-परिणाम की ओर बदलना है और उसका प्रमुख साधन हमारे पास धारण है। अनेक अर्थों को ग्रहण करने वाले चित्त को एकार्थक बनाना है और उसकी एकाग्रता परिणाम के अन्दर परिणित करना है। परिणामस्वरूप योगी के अनवरत अभ्यास करने पर ऐसा होगा ही। भगवान् पतंजलिदेव ने भी कहा है—

**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।**

अर्थात् सर्वार्थकता के क्षय होने पर और एकाग्रता के उदय होने पर चित्त को एकाग्रता रूप समाधि-परिणाम हुआ करता है। इस सूत्र पर भगवान व्यासजी ने चित्त के धर्मों को स्पष्ट करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं-

**सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रतापि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरौभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगत चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः।**

अर्थात् धर्मी चित्त का सर्वार्थता भी धर्म है और एकाग्रता भी धर्म है। जब हम अपने चित्त को सर्वार्थता से छुड़ाकर एकाग्रता के रूप में बदलना चाहते हैं तो उसमें सर्वार्थता का क्षय हो जायगा और एकाग्रता का उदय हो जायगा। एकाग्रता के उदय हो जाने पर यह चित्त का समाधि-परिणाम हो जायगा। इस प्रकार अभ्यास करते हुए जब चित्त ध्यान, धारणा व समाधि तीनों में एक विषयक रहता चला जायगा, तभी वह संयम पदारूढ़ हो सकेगा। जिस समय हम सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता में परिणित करना चाहते हैं उस समय इसके सर्वार्थक रूप धर्मी चित्त के जो धर्म परिणाम थे उनको बिल्कुल छोड़ करके एकाग्रता रूप धर्म परिणाम को स्वीकार किया।

किन्तु इस धर्मी चित्त का यह एकाग्रता रूप धर्म परिणाम धारणा, ध्यान और समाधि तीनों में एक जैसा बना ही रहना चाहिये। यह नहीं होना चाहिए कि हमने जिस विषय को धारणा काल में लक्षीभूत बनाया है उस विषय में धारणा काल में तो हमारा एकाग्र चित्त होता चला जाय और बाद में ज्यों ही ध्यान का समय आये उसी समय चित्त अन्तरायों से अभिभूत होकर किसी दूसरे लक्ष्य में अनुरक्त हो जाय, प्रत्युत धारणा काल में जिस लक्ष्य को चित्त के लिये ध्येय बनाया था, ध्यानकाल में भी उसी में चित्त बराबर एकाग्र रहना चाहिए। इसी प्रकार से ज्योंह चित्त समाधि के धर्मों में परिणित हो उस समय भी चित्त के सामने जो विषय धारणा और ध्यान काल में ध्येयभूत था, समाधिकाल में भी उसी लक्ष्य में ही समाहित होना चाहिए, तभी संयम को प्राप्त हो सकता है।

भगवान् पतंजलिदेव ने **'त्रयमेकत्र संयमः'** कह करके इसी विषय का पूरा-पूरा स्पष्टीकरण कर दिया है। जिस समय संयम स्थिरपद हो जायगा तभी साधक संयम पर जय पा सकता है।

भगवान् व्यासदेव लिखते हैं—

**तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।**

अर्थात् संयम के जय कर लेने पर समाधि प्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है। ज्यों-ज्यों संयम स्थिरता को प्राप्त करता है। त्यों-त्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती जाय और संयम स्थिरपद होता रहे, त्यों-त्यों उसका संयम की भूमियों में विनियोग करना चाहिये। भगवान पतंजलिदेव आज्ञा देते हैं—

**तस्य भूमिषु विनियोगः।**

## अर्थात्-

**तस्य = संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजितोधर भूमिरन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञाऽऽलोकः। ईश्वर-प्रसादाज्जितोत्तर-भूमिकस्य च न ाघरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवाव गतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः।**

अर्थात् संयम के जीत लेने पर उसके बाद वाली भूमिकाओं में संयम करना उपयुक्त है। पहली यूमिकाओं में जब प्राप्त किये बिना बीच की अन्तरा भूमिका को छोड़कर जो लोग प्रान्त भूमियों में संयम करने का प्रयत्न करते हैं। उन सबको स्फुट प्रज्ञा-लोक नहीं हो पाता और जिन विशेष भाग्यवान जीवों ने ईश्वर की कृपा से प्रान्त भूमियों में संयम को सिद्ध कर लिया है, उनको उससे नीचे की भूमिकाओं में संयम उपयुक्त है। क्योंकि जितोत्र भूमिक योगी को अधम भूमियों का ज्ञान साधारण रूपेण हो जायगा। एक भूमि में जय प्राप्त कर लेने के बाद दूसरी भूमि का ज्ञान योगी को स्वतः ही होता रहता है। हमारे शास्त्रकारों ने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है—

**योगेन योगो ज्ञातव्यो,**
**योगौ योगात्प्रवर्त्तते।**
**योऽप्रमत्तस्तु योगेन,**
**स योगे रमते चिरम्।।**

अर्थात् योग से ही योग को जानना चाहिए, योग से ही योग चलता है, जो योगाभ्यास में प्रमत्त है वही व्यक्ति देर तक योगलीन रहता है। इसलिये योगाभ्यास-परायण व्यक्ति को अपने आपको योग-विलीन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकार अभ्यास करने वाले व्यक्ति को धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम को सिद्ध करके उसकी भूमियों में विनियोग करना चाहिये, तभी वह समाधिजा सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

समाधिजा सिद्धियां किस प्रकार से उपलब्ध होती हैं, इसका विषद वर्णन इस छोटे से निबन्ध में हमने दर्शाने का प्रयत्न किया है। इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अष्टांग योग में सभी अंगों का यथार्थता से पालन करते हुए योग के तीन अन्तरंग अंग धारणा, ध्यान, समाधि को पूर्णरूपेण अभ्यास में ले आना चाहिये तभी वह सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

# यौगिक व्यायाम और स्वास्थ्य

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

माधव निदान के सिद्धान्तानुसार — सर्वेषां रोगाणाम् निदान् कुपिता: मला: अर्थात् सब प्रकार के रोगों की जड़ वात, पित, कफ आदि मलों की विकृति है। जिस मनुष्य के शरीर में वात, पित्त, कफ यदि अपनी यथार्थ स्थिति में नहीं रहते, उस शरीर में अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाया करते हैं। किन्हीं प्रकार के उपायों से दूषित न होने पाये तो मनुष्य का शारीरिक स्वास्थ्य अवश्य ही ठीक बना रहता है। शिष्य के शरीर में सप्तम धातु वीर्य है। वीर्य रूप है। उपनिषदों में ऐसे वचन मिलते ''वीर्यं तद्ब्रह्म'' अर्थात् वीर्य ही ब्रह्म स्वरूप है। दूसरे शब्दों में वीर्य शक्ति है। मनुष्य के शरीर में वीर्य कायम रहता है। वह शरीर में व्यापक रूप धारण कर है तो विद्युत प्रवाह की तरह शरीर के स्नायु-मण्डल में पूर्ण प्रगति रखता है। वायु-मण्डल को दूषित नहीं होने देता, स्नायु मंडल का दूषित होना नाड़ियों में रक्त रस का शुद्ध प्रवाह न होना दोषों की विकृति मूल साधन है। जो व्यक्ति बाहरी रंग स्त्रियों के नृत्य थियेटर सिनेमा देखते हैं, उनका मन कामुक बना रहता है और वे लोग बाहर की वेष-भूषा में ठीक-ठीक दिखलाई देते हैं पर अपने मन में कामाग्नि धधकती रहती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि सारे शरीर में व्यापक रहने वाला वीर्य नाभि-मण्डल में इकट्ठा हो जाने पर किसी भी प्रकार उसको रोका नहीं जा सकता वह स्खलन होकर ही रहता है। चाहे यह प्रमेह का रूप धारण करले, स्वप्नदोष के रूप में जाता रहे या मनुष्य की अपनी अन्य किसी भी प्रकार की चेष्टाओं से उसका पतन हो, किन्तु पतन अवश्य हो जाता है। हमारे देश में प्राचीन पद्धति का अब निरन्तर अभाव ही अभाव दिखाई दे रहा है।

हमारे पूर्वज लोग गर्भाधान से लेकर पुन्सवन तक सभी संस्कार बच्चों के कराया करते थे। मातायें सद्-शिक्षायें दिया करती थीं। गर्भिणी स्त्रियों को ब्रह्मचारियों की, वीर बहादुरों की व आत्मवान ऊँचे योगियों की कथाएँ सुनाई जाया करती थीं, इससे गर्भ में ही बच्चे पर उत्तम प्रभाव बन जाया करता था और जन्म ले लेने के बाद पिता अपने बालक का संरक्षण करते थे। वह अपने बच्चों की देखरेख करते हुए छोटी ४-५ वर्ष की अवस्था में गुरुकुलों में छोड़ दिया करते थे। गुरुकुल जंगलों में हुआ करते थे एवं गुरुकुलों के शिक्षक पूर्ण आचारवान्, जितेन्द्रिय हुआ करते थे। वे लोग उन बालकों का शिक्षण किया करते थे और उनकी योग्यतानुसार नैत्यिक व्यायाम, योगासन, ऊर्ध्रेतस, प्राणायाम आदि के अवस्थान का शिक्षण करते रहते थे। उन बालकों को यह ज्ञान हीं नहीं हो पाता था कि भोग किस वस्तु का नाम है। इन स्थितियों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों का वीर्य शरीर में सदा सर्वदा व्यापक रहा करता था और उसके साथ-साथ ऊर्ध्वरेतस प्राणायाम आदि करने से मनुष्य के मस्तिष्क की ओर उसका स्वभावत: आकर्षण रहता था, जिससे वे लोग ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के निर्णांक होकर दीर्घजीवी रहा करते थे। आजकल का समय इसके बिल्कुल विपरीत है। गर्भिणी स्त्रियों को उनके मनोरंजन के लिए नाच-कूद सिनेमा, थियेटर आदि दिखाये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप गर्भावस्था में ही बच्चों के ऊपर भोग भोगने के संस्कार पुष्ट हो जाते हैं। इसके बाद जन्म लेने पर छोटे-छोटे बच्चों को भी नाच-कूद दिखलाये एवं सिखलाये जाते हैं, जिसका परिणाम यह निकलता है कि ये लोग युवावस्था आने से पहले ही जीर्णत्व को प्राप्त कर लेते हैं और आजकल की सह-शिक्षा पद्धति ऐसे लोगों के लिए और भी विनाश का कारण बन जाती है। ऐसी अवस्था में ये लोग अपनी विभिन्न प्रकार की चिकित्सायें कराते हैं। औषधियाँ अपना परिणाम भी दिखलाती हैं, किन्तु आधार भित्ति के क्षीण होने से यथार्थ लाभ नहीं हो पाया करता।

इस विषय में केवलमात्र यत्किंचित् सा यही संकेत मैं कर देना चाहता हूँ कि साधक समुदाय को चाहिये कि वह किसी भी प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने का प्रयत्न करे और उसका सरलतम उपाय यौगिक व्यायाम है। यद्यपि संसार में व्यायाम की शिक्षा बहुत प्रकार से प्रचलित है, किन्तु यौगिक व्यायाम और उनकी शिक्षा-पद्धति विधिपूर्वक योगासन त्रिबंध और मुद्राओं का कराना शरीर में वीर्य को अवश्य ही व्यापक प्रगति देने का कार्य करेगा, जिसके फलस्वरूप स्नायु-मंडल बिल्कुल भी दूषित नहीं होगा। रस और रक्त का ठीक बहन करेगा और स्वास्थ्य ठीक बना रहेगा। वैसे योगिक चिकित्सा में मल विकृति को दूर करने के लिए यौगिक षटकर्म नेति, धौति नौलि, बस्ति आदि सभीं क्रियाएँ विकृत मलों को बाहर निकाल करके घटशोधन का काम करती हैं। ये भी सब क्रियाएँ योग-साधना के अन्तर्गत की जा सकती हैं, किन्तु उससे पहले साधकों को चाहिए कि वे लोग योगाश्रमों में जाकर योगासन, बंध और मुद्राएँ समुचित रूप से शिक्षा पाकर अवस्थानुरूप प्राणायाम आदि का अभ्यास करें। जिसका फल यह निकलेगा कि स्नायुमण्डल दूषित होगा ही नहीं और उसके फलस्वरूप मल विकृति भी नहीं होगी और मल विकृति के न होने से रोग स्वाभाविक ही निर्मूल हो जावेंगे। सर्व साधारण के लिए यौगिक व्यायाम ही उनको स्वस्थ रखने का मूल साधन है। इसके अतिरिक्त शरीर में पैदा हुए रोग विकराल रूप धारण कर चुके हों, तो उनको चाहिए कि योग-साधन केन्द्रों में उनके अनुरूप क्रियाओं से अपनी चिकित्सा करायें अन्यथा सरलतम यौगिक व्यायाम, योगासन आदि सर्व साधारण को पूर्ण हितकर और स्वास्थ्य को ठीक कर देने का मूल साधन है। साधक इस शिक्षा को पाकर ही लाभ उठायें।

# समाधि प्राप्ति के छः अचूक साधन

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग दर्शन के समाधि पाद में भगवान श्री पतञ्जलिदेव जी महाराज ने छः इस प्रकार के साधनों का वर्णन किया है जो बहुत ही सरल हैं एवं हर व्यक्ति के लिए सरलतम एवं सुख साध्य हैं। हमने अपने लेखों में स्थान-स्थान पर यह संकेत बहुत बार किया है कि संसार में जन्म लेने वाले व्यक्ति अपने-अपने अधिकार भेद से सभी योग के विद्यार्थी बन सकते हैं किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सर्व समर्थ एवं विज्ञगुरु अपने साधक समुदाय में से जो व्यक्ति जिस साधन का अधिकारी है उसके लिए वैसे ही साधनों का चयन करें। एक प्राथमिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी के सामने यदि उच्च कक्षीय कोर्स को रख देते हैं तो वह उनकी मूर्खता होगी और उनका वह छात्र किसी भी प्रकार का कोई लाभ नहीं उठा सकेगा। यही कारण है कि हमारे पूर्वाचार्यो ने अधिकार भेद का वर्णन किया है, किन्तु साथ ही प्राणि मात्र के हित के लिए ऐसे साधनों का प्रशिक्षण भी कर दिया जिनको हर व्यक्ति सरलता से अपना कर समाधि मार्ग का आर बढ़ सकता है।

भगवान पतञ्जलिदेव ने योगी को कैसे रहना चाहिए जिससे उसके मन में पूर्ण प्रसन्नता बनी रहे। यह सब बातें समझा करके समाधि प्राप्ति के लिए प्रथम साधन में प्राणायाम का उपदेश किया। श्री पतञ्जलि जी महाराज ने समाधि प्राप्ति के साधनों में सर्व प्रथम प्राणायाम का उपदेश किया और उसकी विधि भी लिखी जो इस प्रकार है—

**प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।**

अर्थात् प्राणायाम करने से भी मनुष्य अपने मन को एकाग्र कर लेता है। श्री व्यासदेव जी महाराज ने इस सूत्र के नीचे अपने भाष्य को पंक्तियों में प्राणायाम को इस प्रकार समझाया है—

**कोष्ठयस्य वायोर्नासिका पुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं=प्राणायामः, ताभ्यां वा मनसः स्थिति सम्पादयेत्।**

अर्थात् शरीर के भीतर के वायु को प्रयत्न विशेष के साथ बाहर निकाल देने को प्रच्छर्दन कहते हैं और ठीक इसी प्रकार से बाहर की वायु को हृदय में धारण करके रोक लेने का नाम विधारण है। इन दोनों शब्दों का अर्थ बाह्य कुम्भक और आभ्यान्तर कुम्भक है। यह प्राणायाम करने वाले साधकों के लिए साधारण संकेत है। प्राणायाम विशेष विधि कितनी मात्रा से कैसे पूरक करें और कितनी मात्रा से कैसे कुम्भक करें, और कितनी मात्राओं से कैसे प्राण का रेचन करें। यह सब विधियाँ एवं साधना प्रकार प्राणायाम के जिज्ञासु विद्यार्थियों को श्री गुरुदेव की शरण में जाकर नियमानुसार सीख लेना चाहिए यदि कोई व्यक्ति प्राणायाम को विशिष्ट विधि को अनुभवी गुरु के द्वारा सीखकर साधना करते हैं तो वे उस साधना के उत्तम परिणाम को भी पा जाया करते हैं। प्राणायाम का उत्तम फल है प्रकाशावरण क्षयँ। अर्थात् योगी दिव्य प्रकाश का भागी बन जाया करता है और प्रकाशावरण क्षय हो जाने के बाद योगी की स्वतः ही समाधि सिद्ध हो जायगी। यह साधन हठयोग का साधन है इसलिए पूर्ण उत्तम अधिकारी, दृढ़ निष्ठावान, अतुलित वीर्यवान, संयमशील ब्रह्मचारी को ही करना चाहिए। यदि प्राणायाम आदि की कठिन साधना को हीन वीर्य करता है और उसका इन्द्रियों पर भी कोई नियंत्रण नहीं है तो उसका परिणाम यह निकलेगा कि वही प्राणायाम जिसके द्वारा साधक ने समाधि प्राप्त कर ली थी, उस हीन वीर्य वासना भोगी साधक के नाश का कारण भी बन जाएगा। हमने अपने योग प्रचार क्षेत्र के अन्दर ऐसे कितने ही साधकों को देखा है जिन्होंने अनधिकार पूर्वक प्राणायाम किया और साथ ही में विषयों के उपभोक्ता भी रहे। परिणाम यह निकला कि ऐसे लोग अपने शारीरिक स्वास्थ्य को भी खो बैठे। दोनों फेंफड़े खराब हो गए और हठात् अपने आपको मौत के मुख में झौक बैठे। इसलिए साधक को चाहिए कि प्राणायाम की शिक्षा किसी सर्व समर्थ उत्तम अनुभवी गुरु से प्राप्त करें। संयम नियम से रहकर धैर्य पूर्वक इस साधना को करें ताकि समाधि द्वार तक पहुँच सके। इसी कारण से हमने अपने इस लेख में प्राणायाम की विधि शिक्षा का दिग्दर्शन नहीं कराया है। यद्यपि यह तो सत्य ही है कि मन को एकाग्र करने के लिए एवं समाधि स्थिति सम्पादन करने के लिए प्राणायाम एक अचूक साधन है। इसके बाद भगवान पतञ्जलिदेव मन की स्थिति का सम्पादन करने के लिए विषयवती प्रवृत्ति का उपदेश कर रहे हैं। सूत्र निम्नांकित है—

**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी।**

अर्थात् साधक के मन में किसी भी प्रकार से यदि विषयवती स्थिति प्रवृत्ति उदय हो जाती है तो वह मन के रोकने का एक खास कारण बन जाती है। विषयवती प्रवृत्ति कैसे और कहाँ पैदा होती है वह सब इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने भली प्रकार स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया है। पढ़िए व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ—

**नासिकाऽग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गंधप्रवृत्तिः जिह्वाऽग्रे दिव्यरससवित् तालुनि रूपसंविद्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंविद्, जिह्वामूले शब्दसविद्, इत्येताः प्रवृत्तय उत्पन्नाश्चितं स्थितौ निबन्धन्ति, संशयंक्विधमन्ति, समाधि-प्रज्ञायाश्च द्वारीभवन्तीति, एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणि-प्रदीप-रत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या, यद्यपि हि**

**तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्य्योपदे शैरवगतमर्थतत्वं सल्दूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथाऽपि यावदेक-देशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्योभवति तावत्सर्व षरोक्षभिवाप-वर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्येषु न दृढ़ां बुद्धिमुत्पादयति तस्माच्छास्त्रानु-मानाचार्य्या पदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षी-कर्त्तव्यः, तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशस्य प्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमप्यापवर्गात्सुश्रद्धीयते, एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते, अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुप जातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति, तथा च सति श्रद्धावार्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेनभविष्यन्तीति।**

अर्थात् व्यास-भाष्य की इन पंक्तियों में जहाँ-जहाँ ध्यान करने से जो-जो विषयवती प्रवृत्ति पैदा होती है उनका दिग्दर्शन कराया है। यह तो हर व्यक्ति जानता ही है कि हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रिय हम सभी के मनों को विषयों की ओर खींचती रहती हैं किन्तु एक सिद्धान्त का विषय हम पहले समझा चुके हैं कि जिन-जिन विषयों को हम आँखों से देखते हैं कानों से सुनते हैं, जिह्वा से रस लेते हैं, नासिका से गन्ध लेते हैं एवं त्वचा से स्पर्श सुख अनुभव करते हैं। यदि ईश्वर की परम कृपा से गुरुशरणागत साधक इन सभी ज्ञानेन्द्रिय के विषयों को अन्तरजाल में देखने का प्रयत्न करता है और वह रूप रस आदि अनुभव में आ जाते हैं तो इन सभी बातों को विषयवती प्रवृत्ति कहा है। अन्तर केवल मात्र इतना ही है कि अभी तक हम बहिर्मुखता से वासनिक विषयों के रस को इन्द्रियों के बाहरी भाग के द्वारा देखते सुनते और भोगते थे, अब अन्तर्जगत में प्रवृत्ति हो जाने के कारण यही विषयवती प्रवृत्ति मन की एकाग्रता का कारण बन जाएगी क्योंकि अभी तक हमारा मन बाह्य जगत् में इन्द्रिय जन्य विषयों का भोक्ता रहा है। वासनिक सुख की उसको अनुभूति है एक मनुष्य किसी भी प्रकार के वासनिक सुख को अनुभव करता है उस समय उसका मन वासना के भोग काल में उस विषय में एकाग्र अवश्य ही जाता है। यद्यपि वह वासनिक सुख क्षणिक है किन्तु क्षण भर के उस सुख का उपभोग करता हुआ मनुष्य वाह-वाह! करता है और यह कहता है कि अरे भाई आज तो मुझे बहुत ही आनन्द आया। इसलिए विषयों के उपभोक्ता इस मन को रसः प्रवृत्ति है। वह वासनिक रस को चाहता है। हमारे आचार्यों ने इसी बात के स्पष्टीकरण के लिए विषयवती प्रवृत्ति का संकेत किया। इस बात को उदाहरण के साथ इस प्रकार समझ लेना चाहिए जैसे कोई रोग पीड़ित व्यक्ति कटु औषधि को खाने में हिचकचाता हे और नहीं खाना चाहता और यदि उसी औषधि को मीठा आवरण देकर खिला दिया जाए तो वह प्रेम पूर्वक खा लेता है। पेट में किसी बहाने उस औषधि के पहुँच जाने पर वह उस रोग का शमन तो अवश्य करेगी ही किन्तु खाने वाले रोगी को कटुता का अनुभव नहीं होगा। इसी कारण को मध्यदृष्टि रखकर के हमारे योगाचार्यों ने अपने ऊँचे-ऊँचे अनुभवों के साथ विषयवती प्रवृत्ति रसवती प्रवृत्ति या विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति आदि-आदि प्रवृत्तियों का उपदेश किया जिससे दृश्य के बाहरी वाले भाग में घूमने वाला मन अन्तर जगत में उसी रस को कुछ विलक्षणता से पाकर वहाँ एकाग्र हो जाए और लम्बे समय तक किया हुआ विषयवती या रसवती का अभ्यास शनैः शनैः निरोधामि मुख होता चला जाएगा। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये उन प्रवृत्तियों को समझाते हैं जिनमें एकाग्र हुआ मन निरोधाभिमुख हो जाए। उन्होंने सबसे पहली बात नासिकाग्र ध्यान करने की बात बतलाई। नासिकाग्र ध्यान करने की बात बतलाई। नासिकाग्र ध्यान करने का उपदेश अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी **'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चनवलोकयन'** कह करके किया है अर्थात् मनुष्य इधर-उधर चारों ओर घूमने वाले अपने मन को चारों ओर से हटा करके नासिका के अग्रभाग में लगा दे। ऐसा करने से गन्धवती प्रवृत्ति कुछ दिन के लगातार अभ्यास करने के बाद अवश्य-अवश्य बन जाएगी और उस साधक को दिव्य सुगन्ध स्वतः ही हर समय बनी रहने लगेगी। इसको गन्धवती प्रवृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह प्रवृत्ति गन्ध रूप से विषयवती है। इसी प्रकार से जो अभ्यासी लोग जिह्वा के अग्रभाग में ध्यान करते हैं उनको धीरे-धीरे दिव्य रसों की अनुभूति स्वतः ही होने लगती है। इसको रसवती प्रवृत्ति कहते हैं। जो लोग तालू के मध्यभाग में ध्यान करते हैं उनको उस अभ्यास काल में बड़े-बड़े दिव्य रूप दीखने लगते हैं इसका नाम रूपवती प्रवृत्ति है। जो लोग जिह्वा के मध्य भाग में ध्यान करते हैं उनको बड़े-बड़े दिव्य स्पर्शों का अनुभव होने लगता है। इसके अतिरिक्त जो लोग जिह्वा के मूल भाग में संयम करते हैं, उनको बड़े-बड़े दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं। यह इस प्रकार की सभी प्रवृत्तिऐं निरन्तर अभ्यास करते हुए साधक के मन में उत्पन्न हो जायें तो योगी के चित्त को एकाग्र कर देती है और सभी प्रकार के संशयों का नाश भी कर देती है और समाधि प्रज्ञा के द्वार को खोल देती है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा सूर्य अन्य दूसरे ग्रह मणि और प्रदीप रत्न आदियों के ध्यान करने पर जो प्रवृत्ति पैदा होती है। यह सब की सब प्रवृत्तियें विषयवती ही जाननी चाहिए। यद्यपि यह ठीक है कि शास्त्र अनुमान और अर्थ के वेत्ता आचार्यों के द्वारा अर्थ तत्व बिल्कुल सत्य ही होता है क्योंकि यह सब के सब यथार्थ वक्ता होते हैं। यथार्थ अर्थ की समझाने की सामर्थ्य वाले होते हैं। किन्तु फिर भी साधक को चाहिए कि अपने अभ्यास के बल से इनमें से किसी अर्थतत्व को प्रत्यक्ष जरूर करें। इन विषयवती प्रवृत्ति ध्यान कर वास्तविक अर्थतत्व को प्रगट करने वाला योगी शंकित नहीं रहेगा। और योगाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट सूक्ष्म अर्थ तत्व में उसकी पूर्ण श्रद्धा हो जाएगी इसी कारण से यह सब चित्त के अभ्यसनीय विषय समझाए गये हैं। जो साधक चञ्चल चित्त-वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और वशीकार संज्ञा को पा जाता है तो वह उस उस अर्थ तत्व को समझने वाला बन जाता है। ऐसे साधक के लिए श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि आदि उसकी परम सहायक बन जायेगी। इसी प्रकार से विषयों का ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन के बाधा लेने में पूरी-पूरी सहायक होती है। भगवान पतंजलिदेव ने कहा है—

## विशोका वा ज्योतिष्मती

इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

**प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी त्यनुवर्त्तते, हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंविद्—**

**बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थिति वैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्य्यन्दु ग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते,**

**तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तंनिस्तरङ्गमहो दधिकल्पं शान्त-मनन्तमस्मितामात्रं भवति यत्रेदमुक्तं 'तमणुमीत्र (1) मात्मान-मनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संभ्रजानीते' इति, एषा द्वयीविशोका विषयवती, अस्मितमात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिनश्चितं स्थिति पदम् लभत इति।**

अर्थात् एक योगी जब हृदय कमल में ध्यान करता है तब आकाश के मानिन्द चमकता हुआ बुद्धि सत्व चन्द्रमा ग्रह मणि प्रभा के रूप से अनुभूति में आता है और इस ही प्रकार से अस्मिता में लगा हुआ चित्त निस्तरंग समुद्र के मानिन्द अस्मिता मात्र से अनुभव में आया करता है। इस प्रकार से यह प्रमाण रूप में कहा भी गया है। हृदय पुण्डरीक मेव आकाश के मानिन्द देदीप्यमान तेज का ध्यान करता हुआ योगी यह अनुभव करता है कि यह सब मैं ही हूँ। यह दोनों प्रकार की विषयवती अथवा अस्मिता मात्रा ज्योतिष्मती कही जाती है। इसका ध्यान करने वाला योगी स्थिति पद को पा जाया करता है। इसके अतिरिक्त—

**वीतरागविषयम् वा चित्तम्। वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तम् वा योगिगनश्चितम् स्थितिपदम् लभत इति।**

अर्थात् वीतराग पुरुषों के चित्त में उपरक्त हुआ चित्त समाधि स्थिति को पा जाया करता है। वीतराग पुरुष सब प्रकार से परिपूर्ण सर्व-सामर्थ्य सम्पन्न योगेश्वर ही हुआ करते हैं। एक साधारण साधक भगवान श्रीकृष्ण, भगवान श्री शिव, भगवान श्री राम कपिलादिक सिद्ध महामाया भगवती दुर्गा कपिलादिक मुनि यह सभी लोग वीतराग है। इनके स्वरूप का ध्यान करता हुआ योगी साधक यदि इन लोगों के मन बुद्धि चित्त अहंकार में अपने मन बुद्धि चित्त अहंकार को विलीन कर देता है और इन्हीं लोगों में तदाकार वृत्ति धारण करके समाधिस्थ होकर बैठा रहता है तो जैसी स्थिति में यह लोग स्वयं रहा करते हैं वही स्थिति योगी को स्वत: ही उपलब्ध हो जाती है। यह एक नियम की बात है छोटी शक्ति बड़ी शक्ति में विलप हुआ करती है जल की एक बूंद समुद्र में पड़कर समुद्र हो जाया करती है। साधक का मन परमित शक्ति वाला है। वीतराग पुरुषों के बड़ी शक्ति वाले मन में अपने मन को बुद्धि में बुद्धि को चित्त में चित्त को एवं अहङ्कार में अहङ्कार को यदि योगी विलीन कर देता है, और तदुरुपता को पा जाता है तो वह इन लोगों के स्वरूप में अपने स्वरूप को विलीन करके समाधिस्थ होकर के बैठा जाता है तो जिस प्रकार से यह लोग स्वयं निर्बीज समाधि में समाधिस्थ रहते हैं उसी प्रकार वह योगी भी इनके स्वरूप में अपने स्वरूप को विलय करके निस्त्रेगुण्य स्थिति को पा जाएगा। इसके बाद समाधि प्राप्ति का पांचवां उपाय स्वप्न निद्रा ज्ञानावलम्ब है। भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में पढ़िए—

**स्वप्ननिद्रोज्ञानालम्बनं वा।**

**स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञाना लम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदम् लभत इति।**

अर्थात् योगी स्वप्न ज्ञान का सहारा लेयर के एवं निद्राज्ञान का सहारा लेकर भी समाधि स्थिति को पा जाया करता है। जिस प्रकार से रात्रि में सोया हुआ एक व्यक्ति कोई स्वप्न देखता है और उसमें वह देखता है कि वह कहीं देश विदेश में कहीं गया हुआ है। वहाँ के मनुष्यों से वह मिल रहा है। बाजारों को देख रहा है। उसका यह स्वप्न में होने वाला ज्ञान उसके आधुनिक इस जीवन से बिल्कुल भिन्न हैं। इसी प्रकार से एक योगी ध्यानाभ्यास में बैठ कर कल्पित स्वप्न लेता है। वह सोचता है कि मैं कैलाश पर्वत पर गया हुआ हूँ। वहाँ पर विश्वात्मा भगवान शङ्कर बैठे हुये हैं उनके वामांग में जगदम्बा पार्वती जी विराजमान हैं। हिमालय के सिद्ध लोग आ आ करके उनकी आरती पूजन कर रहे हैं। इस प्रकार की कल्पना करके जो भी साधक लोग मानस पूजन आदि करते हैं वे सहज में ही स्वप्न ज्ञानावलम्बी बन जाते हैं और शनै: शनै: उनको भी स्वत: समाधि होने लगती है। इसी प्रकार कुछ लोग निद्राज्ञान का अवलम्ब लेते हैं। निद्रा, अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेकर स्वरूप दिखाने वाली एक वृत्ति तो है ही किन्तु सुसुप्ती में मनुष्य सभी प्रकार के बाह्याभ्यन्तर ज्ञानों से शून्य जैसा हो जाता है, ऐसे योगाभ्यासियों को ध्यान में अपने मन को निर्विषय बना देना पड़ता है। निद्रा ज्ञान का अवलम्बन लेने वाला साधक ध्यानम् निर्विषयं मन: योगी अपने मन को बिल्कुल-बिल्कुल चिंतन रहित कर दे। जिस प्रकार से सुसुप्ति में कुछ भी नहीं सोचता, कुछ भी नहीं करता। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, कैसा हूँ, यह भी ज्ञान उसको नहीं रहता न उसे अपने घर, भाई, बन्धु व स्त्री आदि ही याद आते हैं। वश न किंचित अपि चित्तयेत वाली स्थिति को पा जाया करता है इसी का नाम निद्रा ज्ञानालम्ब है। योगाभ्यासियों के लिए यह एक बहुत ही उत्कृष्ट एवं सरलतम् साधन है। सांसारिक लोगों के एक और सरलतम् साधन का भगवान पतञ्जलिदेव उपदेश कर रहे हैं।

**यथाऽभिमतध्यानाद्वा।**

**यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्, लब्धस्थिति कमन्यत्रापि स्थितिपदम् लभत इति।**

अर्थात् जिस व्यक्ति का मन जिसको चाहता हो उसका ध्यान करने से भी जल्दी इस स्थिति को पा सकता है। क्योंकि योगी का मन उसमें पहले से अनुरक्त होता है। जिस वस्तु में हमारा राग है उसका ध्यान किया जाए तो एकाग्रता सहज में ही हो जाया करती है, रहीम, रसखान आदि मुसलमान कवि इसी विषय के उपलब्ध उदाहरण है। रसखान संसार के लड़कों में आसक्ति रखता था। भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप उसे दिखलाया गया उसने उनका नाम पता पूछा। एक बालक समझ करके उनको तलाश करते श्री वृन्दावन के जंगलों में घूमताा रहा। उसका परिणाम यह निकला कि वह एक आदर्श भक्त बन गया। भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता की समझ गया। भगवान श्रीकृष्ण की सत्ता को समझ गया और अपने आपको उनके चरणों पर न्यौछावर कर डाला। और भी अनेकानेक इस प्रकार के उदाहरण हैं। मैं अधिक विषय विस्तार नहीं करना चाहता। विज्ञ साधकों के लिए इतना ही पर्याप्त है। भगवान श्री पतञ्जलिदेव जी महाराज ने समाधि प्राप्ति के लिये इन अत्यन्त सरलतम् साधनों का इस प्रकार से उपदेश किया जिनमें से किसी एक का अवलम्ब लेकर साधक समाधि स्थिति को पा सकता है और अपने आप को कृतार्थ बना सकता है।

# समाधि और संयम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव जी ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। अष्टांग योग की साधना एक ऐसी साधन है जिसे करने वाला व्यक्ति अवश्य ही समाधि द्वार तक पहुँच जाया करता है किन्तु फिर भी अष्टांग योग के पाँच अंग सम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार अङ्गों को बहिरंग अंग ही माना है। क्योंकि इन सब की साधना साधक बहिर्मुखी वृत्ति रखते हुये भी कर सकता है। पर धारणा ध्यान और समाधि को मनुष्य अन्तर्मुखता प्राप्त किए बिना सिद्ध नहीं कर सकता। धारणा ध्यान और समाधि का विषय एक ऐसा विषय है जो एक दूसरे के साथ सम्बद्ध है।

धारणा ध्यान और समाधि की साधना मनुष्य को सोपान क्रम से करनी ही पड़ती है। यदि कोई साधक इस साधन क्रम को नहीं अपनाता तो उसका समाधि द्वार तक पहुँचना कठिन ही नहीं प्रत्युत नितान्त असम्भव ही रहता है। यह दूसरी बात है कि हिमालय की गहन गुफाओं में छिपकर बैठने वाले सर्व समर्थ अष्ट विधि ऐश्वर्य सम्पन्न योगेश्वरों की कृपा से कोई शक्तिपात दीक्षा पाकर सहज में बिना ही किसी प्रयास के समाधि को पा जाय। किन्तु प्रयत्नशील साधक जो साधन योग का ही विद्यार्थी है उसको तो समाधि की उच्चतम् स्थिति दृढ़ भूमि संयम को प्राप्त करने के लिए साधन क्रम को ही अपनाना पड़ेगा। यथार्थ में तो पूरी तरह से पूर्णता पाने के लिए उच्चतम अधिकारी साधक को अष्टांग योग के सभी साधनों को सोपान क्रम से करना ही चाहिए। उच्चतम एवं दृढ़तर सफलता का आधार तो सोपान क्रम ही है। प्रथम कक्षा में पढ़ने वाला एक विद्यार्थी ठीक और ठोस विद्वान तो तभी बनेगा। जब वह अच्छे अंक प्राप्त करते हुये क्रमशः सोपान क्रम के ढंग से अपनी श्रेणियों को पार करता चला जाये। जो लोग अपने छात्रों को पहली, दूसरी, तीसरी श्रेणियों से क्रमबद्ध सोपान क्रम से अपने विद्यार्थियों को नहीं निकालते और यथा-तथा रिश्वतों से या बड़ी-बड़ी सिफारिशों से प्रभावित होकर अपने विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र लेते हैं किन्तु अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह की योग्यता समुचित नहीं प्राप्त हो पाती। योग साधना भी एक प्रकार की एक ठोस पढ़ाई है जो उत्तम साधक अष्टांग योग का क्रमशः अभ्यास करता है और यम-नियमों की साधना को विधिवत् निभाता है उसकी आधार भित्ति पूर्ण रूपेण पुष्ट हो जाया करती है। हमारे शास्त्रीय सिद्धान्तों में ब्रह्मचर्य पर बड़ा बल दिया गया है। ऋषि पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रय का पालन प्राचीन काल में गुरुकुलों में कराया जाया करता था। गर्भावस्था से ही बच्चों के अन्दर उत्तमोत्तम संस्कार भरने की चेष्टा की जाया करती थी इसी कारण से गर्भाधान, पुंसवन एवं नामकरण आदि सोलहों संस्कार विधि विधान पूर्वक नियमानुसार कराये जाते थे। आठ साल की अवस्था से पहले ही बच्चों को जंगलों में गुरुकुलों में छोड़ दिया जाया करता था जिसका फल यह निकलता था अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि गुरुकुल की नियमावली में सम्बद्ध होने के कराण स्वतः ही परिपालित होते थे। उनकी आधार भित्ति इतनी सबल हो जाती थी कि वे लोग अपने जीवन में कभी भी निराशा को नहीं देखते थे। आसन, प्राणायाम और धारणा, ध्यान, समाधि ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी बिना किसी प्रयास के परिपालित होते थे। आजकल के इस युग में यद्यपि इस प्रकार की नियमावलियों को चलाना कुछ कठिन सा बन गया है किन्तु फिर भी एक साधक जो अष्टांग योग का क्रमशः पालन करने में अपने आपको असमर्थ देखता है तो कम से कम उसको धारणा ध्यान समाधि आदि का तो क्रमशः अभ्यास कर ही लेना चाहिए जिससे वह साधक अपने मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर सके। धारणा ध्यान आदि का नियमानुसार साधन करने से साधक स्वतः ही समाधि द्वार तक पहुँच जाता है। धारणा के विषय का स्पष्टीकरण करते हुये भगवान पतञ्जलिदेव धारणा का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं।

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**

अर्थात् गुरुदेव के द्वारा उपदिष्ट किसी भी लक्ष्य स्थान में मन को बाँध देना धारणा कहलाती है। धारणा के दो प्रकार हैं। बाह्य धारणा और अभ्यान्तर धारणा। बाह्यधारणा स्थूल विषय है अतः सभी साधकों का झुकाव बाह्य धारणा की ओर ही प्रायः रहा करता है बाह्य धारणा करने वाले साधक त्राटक को अपनाते हैं। लक्षीभूत किसी भी दृश्य को आँखों के द्वारा निश्चल भाव से बराबर देखते रहना त्राटक कहलाता है। यह त्राटक साधक समुदाय अनेक प्रकार से करते हैं। भगवान राम-भगवान कृष्ण या भगवान शिव आदि की तस्वीरों पर खुली आँखों से देखते रहना बाह्य त्राटक कहलाता है। इसका परिणाम यह निकलता है। शनैः शनैः अभ्यास क्रम से बढ़ता हुआ मनुष्य सौरत्राटक तक पहुँच जाता हैं और वह अपने आस-पास दिव्य तेज को अनुभव करने लगता है। शनैः शनैः वही दिव्य तेज ध्यान के रूप में बढ़ जाया करता है और समाधि स्थिति तक ले जाया करता है इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव ने धारणा के स्थलों का इस प्रकार वर्णन किया है-

**नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्रइत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्धइति धारणा।**

अर्थात् नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र यह सब स्थान बतलाये हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अन्यान्य आचार्यों ने धारणा के लिए मेरुदण्ड के अन्दर होने वाले षटचक्र जिह्वामूल-जिह्वा मध्य-तालू आदि-आदि और भी धारणा के स्थानों का वर्णन किया है।

किन्तु इन सभी स्थानों में धारणा करने के लिए भगवान व्यास देव जी ने यह स्पष्ट आदेश दिया है कि :—

**इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।**

अर्थात् इन सब स्थानों में या इनके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य विषय में भी मन की कल्पना मात्र से ही चित्त को बांधना धारणा कहलाती है। मनुष्य शास्त्र विधि से यदि धारणा करता है तो नाभिचक्र में धारणा करने से वही धारणा अनपे आप ध्यान के रूप में बदल जायगी। उसका परिणाम यही निकलेगा कि साधक को काया व्यूह की रचना का ज्ञान स्वत: ही होने लगेगा। हृदय कमल में धारणा करने से परम सत्व का साक्षात्कार होगा।

मूर्धाज्योति में धारणा करने से प्रणव तत्व अर्थात् सद्गुरुतत्व का साक्षात्कार होगा या सिद्धों के दर्शन होने लगेंगे। नासिकाग्र में धारणा करने से ध्यान के रूप में परिवर्तित हुई वह धारणा अवश्य ही दिव्यावलोकन कर पायेगी। जो लोग जिह्वाग्र में धारणा का अभ्यास बढ़ाते हैं उनको रसानुभूति अपने आप ही होने लगती है। यह धारणा ही समय पाकर ध्यान रूप में बदल जाया करती है। ध्यान का लक्षण भगवान पतञ्जलि देव इस प्रकार बतलाते हैं :—

**तत्र प्रत्ययैकताना ध्यानम्।**

अर्थात् जिस विषय को लक्ष्य करके हम धारणा कर रहे थे उससे मन बिल्कुल भी विचलित न हो, उससे मन बिल्कुल भी विचलित न हो, तैलधारावत् निरन्तर चलता रहे, उसी का नाम ध्यान है। ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते रहने पर ध्येय वस्तु बिल्कुल स्पष्ट दीखने लगती है। भगवान व्यास देवजी महाराज ने इन ही भावों को भाष्य की दो पंक्तियों में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है जैसे :—

**तस्मिन देशेध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता-सदृश: प्रवाह: प्रत्ययान्तरेणा परामृष्टो ध्यानम्।**

अर्थात् ध्याता साधक जिस ध्येयवस्तु का ध्यान कर रहा है, मन एक धारा से उसमें लगा रहे। दूसरा कोई विचार भी अभ्यास काल में मन में पैदा न हो तो मसझ लेना चाहिए कि साधक का ध्यान परिपक्व हो गया है। जब साधक इसी प्रकार नियमानुसार ध्यानाभ्यास करता है तो वही ध्यान समाधि के रूप में बदल जाया करता है। जैसा कि भगवान पतञ्जलिदेव ने दिग्दर्शन किया है :—

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्य मिव समाधि:।**

**ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्मदा समाधिरित्युच्यते।**

अर्थात् जिसका हम अभी तक ध्यान कर रहे थे उसमें तीन वस्तुएँ अलग-अलग दिखलाई दे रही हैं। ध्याता, ध्येय और ध्यान। ध्यान का निरन्तर अभ्यास करने के बाद स्थिति इस प्रकार की आ जाया करती है जब व्याता अर्थात् ध्यान करने वाला साधक ध्येयाकार में बदल जाया करता है। थोड़ी देर के लिए उदाहरण रूप से इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। जैसे ध्यान करने वाला एक साधक अपने इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण, श्रीराम अथवा भगवान श्री शङ्कर का ध्यान कर रहा है। इस प्रकार ध्यान करने वाला एक साधक ध्याता के रूप में बदल कर के ध्येयाकार से भासित होने लगे। साधक को अपना ध्याता होने वाला ज्ञान बिल्कुल भूल जाए, वह यह समझने लगे कि मैं स्वयं शिव ही हूँ, ऐसे ज्ञान को समाधि कहते हैं। जो साधक अपने इष्टदेव के स्वरूप में तल्लीन हो करके ध्येयाकार में देखने लगे। तो समझ लेना चाहिए कि उसको समाधि हो गई। किन्तु यह समाधि सम्प्रज्ञात समाधि है। जब तक माया का बीज बना रहेगा। तब तक यह सम्प्रज्ञात सबीज समाधि ही कह लायेगी। सबीज निर्बीज आदि समाधि के अन्यान्य भेद है। जिसका हम कालान्तर में दूसरे प्रकरण में वर्णन करेंगे। इससे आगे संयम का विषय आ जाता है। वह इस प्रकार है :—

**त्रयमेकत्र संयम:।**

**एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति।**

अर्थात् उस समाधि में साधक के पूरा-पूरा निष्णात् हो जाने के बाद साधक संयम को पा जाया करता है। संयम का अर्थ हैं- धारणा ध्यान और समाधि यह तीनों एक विषयक हो जाती हैं अर्थात् धारणा काल में जिस आकृति पर धारणा करनी आरम्भ की तो धारणा इतनी परिपक्व हो गई कि ध्यान भी उसी आकृति पर बराबर होने लगा और ज्यों-ज्यों ध्यान का अभ्यास किया गया तो उत्साही लक्षीभूत आकृति में समाधि हो गई। ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही लक्ष्य में बन जावें तो समझ लेना चाहिए कि मनुष्य को संयम सिद्ध हो गया। इन तीनों साधन क्रम का नियम संयम सिद्ध करने के लिए इस प्रकार है— साधक अपने धारणा के अभ्यास काल में तीन घण्टे रोज धारणा को परिपक्व करता रहे आर जब वह धारणा, ध्यान के रूप में बदल जाए तब तीन घण्टे रोज उस ध्यान का अभ्यास करता रहे और जब वह ध्यान ध्येयाकार में परिवर्तित होकर समाधि के रूप में बदल जाय तो साधक को चाहिए कि नित्य तीन घण्टे समाधि का अभ्यास करें। जब एक साधक तीन घण्टे नित्य समाधि के अभ्यास में लीन रहता है तो उसको संयम सिद्ध हो जाया करता है। संयम सिद्ध हो जाने पर यदि साधक अपने अभ्यास क्रम को नहीं बदलता, संयम भी रोज तीन घण्टे बराबर करता चला जाता है तो वह साधक संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है भगवान पतंजलि देव जो आदेश करते हैं :—

**तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोक:।**

व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

**तस्य संयमस्य जयात्समाधि प्रज्ञया भवत्यालोक: यथा-यथा संयम: स्थिरपदो भवति तथा-तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।**

अर्थात् संयम के सिद्ध हो जाने पर साधक को स्फुट प्रज्ञालोक हो जाया करता है। स्फुट प्रज्ञालोक हो जाने के बाद साधक यथार्थता का ज्ञाता बन जाया करता है और इस प्रकार संयम बन जाया करता है। और इस प्रकार संयम का दृढ़तर अभ्यास परिपक्व हो जाने के बाद साधक जहाँ-जहाँ अपने संयमित मन को लगायेगा वहाँ-वहाँ अवश्य ही सफलता लाभ करेगा। यही समाधि और संयम का उत्कृष्ट फल है जिससे मनुष्य अन्तरजगत का पूरा-पूरा ज्ञाता बन जाया करता है।

# क्लेश और उनका मूल अविद्या

**विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज**

मनुष्य सदा क्लेशों से बचकर रहना है। जीवन का एक क्षण भी क्लेशों में न बीते ऐसी इच्छा उसकी सदा बलवती बनी रहती है। इतना ही नहीं कि यह केवल इच्छा मात्र करके ही चुप बैठकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर लेता हो किन्तु वह क्लेश निवारण लिए विभिन्न प्रयास भी करता रहता है। दान, तप, जप, पूजा-पाठ, औषध, उपचार, व्यवसाय आदि सबके मूल में उसकी यही चाहना रहती है कि वह सभी प्रकार के कष्टों, क्लेशों और पाप तापों से बचा रहकर सुख एवं शान्ति से भरा-पूरा जीवन इस धरती पर बिता सके। लेकिन बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी क्लेश रहित जीवन जीने की कामना पूरी नहीं हो पाती। वह सुख और शांति की झोली भरने हेतु घर से निकलता है किन्तु जा पहुँचता है ऐसे कटीले अरण्य में जहाँ कष्ट, क्लेश और आपदायें अनायास आकर उससे टकरा आजी हैं और न चाहते हुए भी उसे उनका प्रतिफल भोगना पड़ता है। क्या कभी आपने सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? क्यों और कैसे यह अनचाहे और अन-बुलाये मेहमान मानव के मन आँगन में आकर अपना आसन जमा लेते हैं?

इसका समाधान करते हैं हमारे धर्म-शास्त्र। जिनका उद्देश्य मानव-जीवन को सुखी, सम्पन्न और निराभय बनाये रखने का दिशा-बोध देना ही रहा है। जो मनुष्य इस शास्त्रीय दिशा-बोध देना ही रहा है। जो मनुष्य इस शास्त्रीय दिशा-बोध की उपेक्षा करके-मनमाने ढंग से अशास्त्रीय तौर-तरोकों से अपना-जीवन बिताते हैं वे समझ ही नहीं पाते कि जीवन है क्या? क्यों और किसलिए यह मिला है, और क्यों उन्हें जीवन में क्लेशों तथा कष्टों का सामना करना पड़ता है?

इस लेख में जीवन के उद्भव और उसके उद्देश्य की व्यापक चर्चा हम करने नहीं जा रहे। आगे कभी हम इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करेंगे। प्रस्तुत लेख में तो हमारी गवेषणा का विषय केवल इतनी ही है कि शास्त्रीय दृष्टि से क्लेश क्या हैं और क्यों ने अनायास जीवन में आकर उसे क्लेशमय बना डालते हैं।

योग-साधकों के हित में योग दर्शन के सूत्र कार भगवान पतञ्जलि के शब्दों में ही इस प्रकार प्रकाश डालना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। वे योगदर्शन के पाद २ में सूत्र संख्या १२ में बड़ी स्पष्टता से लिखते हैं कि मनुष्य की जीवनयात्रा में क्लेशों का कारण उसका अपना कर्माशय ही रहता है। सूत्र इस प्रकार है :—

**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टा-दृष्ट जन्मवेदनीयः।**

अर्थात् क्लेश ही जिसका मूल है ऐसा कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में भोगनीय होता है।

अब विचारणीय बात मात्र यह रह जाती है कि इस **'क्लेश मूलक कर्माशय'** से जो सदा सर्वदा मनुष्य के जन्म-मरण का कारण बना रहता है, कैसे छुटकारा मिले?

लेकिन इससे भी पहले यह जान लेना या समझ लेना भी जरूरी है कि क्लेश क्या हैं, इनका स्वरूप कैसा है, और वे कितने हैं, क्योंकि बिना इसके जाने समझे न क्लेशों से छुटकारा मिल सकेगा, न क्लेशमूलक कर्माशय से।

योग-दर्शन के साधन पाद के आरम्भ में ही भगवान पतञ्जलिदेव ने क्लेशों का नामधेय इस प्रकार है—

**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।**

योग-दर्शन २-३

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, पाँच क्लेश कहे गए हैं।

इस सूत्र पर अपने भावों को व्यक्त करते हुए श्री व्यास देव जी महाराज निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं—

**क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाविकारं दृढ़यन्ति, परिणाममवस्था पयन्ति, कार्यकारण स्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकाश्चभिनिर्हरन्तीति।**

अर्थात् क्लेशों को ही पञ्चविपर्य नाम से कहा गया है। यह बढ़े हुए क्लेश गुणाधिकार को उत्तरोत्तर दृढ़ करते हुए परिणाम को अवस्थापित करते हैं। कार्यकारण स्त्रोत को उकसाते हैं और एक दूसरे के साथ मिलकर के कर्मविपाक को प्रकट करते हैं।

इन पाँचों क्लेशों में से प्रथम क्लेश अविद्या है और यह अविद्या क्लेशाधिकार की जननी है। रूप की दृष्टि से क्लेश चार प्रकार के रूपकों में रहते हैं। १. प्रसुप्त, २. तनु, ३. विच्छिन्न ४. उदार। इन सभी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों में अविद्या नामक क्लेश प्रमुप्त है। भगवान पतञ्जलिदेव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

**अविद्या क्षेत्र मुत्तरेषां प्रस्सुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम्।**

–योग २–४

अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार यह जो क्लेशों के रूपक हैं उनकी जननी केवल मात्र अविद्या ही है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने जो भाव व्यक्त किया है वह इस प्रकार है—

**अत्राविद्या क्षेत्रम–प्रसव भूमि: रुतरेषाम्–स्मितादीनां चर्तुिवधि कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्, तत्र का प्रसुप्ति: चेतसिशक्तिमात्र प्रतिष्ठानां बीजभावोपगम:। तस्य प्रबोधालम्बने संमुखिभाव: प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्ध बीजस्य कुत: प्ररोह इति। अत: क्षीण क्लेश: कुशलश्चरमदेह इत्युच्ते। तत्रैवसा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सता क्लेशनां तदां बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सुमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानाम् प्ररोहश्च, तनुत्वमुच्यते, प्रतिपक्षभावनोपहता: क्लेशास्तनवो भदन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुन: पुन: समुदाचरणन्तीति विच्छिन्ना: कथं? रागकाल क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोध: समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तइति: किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।**

**विषये यो लब्धवृत्ति: स उदार:। सर्व एवैते क्लेशविषयत्व–प्रत्ययं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्न: प्रसुप्ततनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते सत्यमेवै तत् किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्या भेदा:। करमात् सर्वेष्ववविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्ययावस्त्वाकार्यते तदेयानुशेरते क्लेशा विपर्यास–प्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणाश्चविद्यामनुक्षीयन्त इति।**

अर्थात् क्लेशों की जन्मदात्री प्रसव भूमि केवल अविद्या ही है। अविद्या के अतिरिक्त अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश इन सभी क्लेशों की उत्पत्ति अविद्या के बाद में है इस अविद्या के सहित अस्मिता, राग, द्वेषादि जितने क्लेश हैं वे सबके सब प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन रूपों में बँटे रहते हैं।

क्लेशों की प्रसुप्तवस्था का वर्णन करते हुए भगवान व्यासदेव बतलाते हैं। प्रसुप्ति उसे कहते हैं जिसमें संस्कार बीजमात्र से रहा करते हैं, अर्थात् जैसे बीज के अन्दर वृक्ष छुपा रहता है तब तक जब तक कि वह प्रगट नहीं होता। इस रूप में यानी बीजभाव में यह प्रसुप्त है, शक्तिमात्र से कायम है। अभी तक किसी भी प्रकार से वह क्रियाशील नहीं है। उदाहरण के तौर पर इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे वट वृक्ष का बीज बिल्कुल अणुमात्र होता है जब उसका उद्गम समय आयेगा तब यह बहुत ही लम्बा चौड़ा विस्तार लेकर के दूर तक फैल जावेगा। किन्तु जब तक वह बीज भाव से अवस्थित है तब तक उसका यह प्रसुप्तिकाल है। प्रसुप्त संस्कार उद्गम काल सामने आने पर प्रगट हो सकते हैं, किन्तु योगी जिस समय अपनी योग ज्ञानाग्नि के द्वारा ऐसे प्रसुप्त संस्कारों का दहन कर देता है तब वे सब संस्कार दग्धबीज हो जााय करते हैं। जिस समय योगी के संस्कार दग्धबीज हो गये होते हैं ऐसी स्थिति पा जाने के बाद योगी का शरीर अर्थात् देह चरमदेह कहलाया करता है। ऐसा योगी जन्म–मरण के चक्र से बिल्कुल छूट जाया करता है। इसीलिए इसको चरमदेह कहा गया है। इसके अतिरिक्त तनु, विच्छिन्न एवं उदार वृत्ति के संस्कार और रहते हैं, इनमें से साधक किसी एक विषय में रागवान होता है तो वह दूसरे विषयों में विच्छिन्नता एवं तनुत्व धारण कर लेता है।

उदाहरण के लिए इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे किसी साधक का एक विषय के अन्दर राग है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं, समझना चाहिए कि बाकीं, अन्य विषयों में उसका राग है ही नहीं या होगा ही नहीं, ऐसी बात नहीं है उस समय का वह उसका राग उदार वृत्ति वाला कहलाएगा। किन्तु शेष विषयों में उसकी तनुता या विच्छिन्नता आ जायगी। उदाहरण के लिए इसे भी यों समझ लेना चाहिए कि जैसे कोई कामुक व्यक्ति किसी स्त्री से स्नेह करता है और उसका स्नेह इतनी अधिक मात्रा में बढ़ा हुआ है कि वह उससे एक क्षण भी दूर नहीं रह सकता, तब यह उसका संस्कार उदार वृत्ति वाला संस्कार भी कहते हैं पर इसका भी अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का प्रेम किसी दूसरी जगह है ही नहीं या होगा ही नहीं। होगा तो अवश्य किन्तु वह गौण होगा। जैसे राग के समय क्रोध दिखलाई नहीं देता। जहाँ क्रोध प्रबल होता है वहाँ राग हल्का पड़ जाता है। इसी तरह जब किस एक संस्कार का पूर्ण प्रबलता के साथ भुगतान होता है तो उसके अन्य संस्कार हल्के पड़ जाते हैं या विच्छिन्न हो जाते हैं जैसे एक व्यक्ति ने कहीं किसी गाँव में जन्म लिया, उस समय वहाँ के उसके बन्धु–बान्धव बहुत ही प्रेमी और प्यारे हैं। देखने से मालूम पड़ता है कि इनकी यह प्यार और प्रीति कभी टूटेगी नहीं किन्तु समय आने पर किसी व्यापार के बहाने यही व्यक्ति हजारों मील की दूर जाकर बस जाता है। तब ऐसी दशा में वह उन पुराने मित्र प्रेमियों को बहुत ही कम याद करता है या अधिक समय हो जाने के बाद तो बिल्कुल भूल ही जाया करता है। इसे बिल्कुल भूल जाने का अर्थ है— विच्छिन्नता और थोड़ा थोड़ा याद रहने का अर्थ होता है तनुत्व। इन सभी प्रसुप्त तनु, विच्छिन्न एवं उदार संस्कारों की जन्मदात्री होती है अविद्या। इसलिए यही अविद्या सभी क्लेशों की मूलभूता है यानी जननी है। अत: शास्त्रकार परामर्श देते हैं कि पाँचों क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए साधक अथवा योगी को अपना प्रधान शत्रु अविद्या को समझ कर उसका नाश सद्गुरु के सानिध्य में रह कर ज्ञान को तीक्ष्ण तलवार से करना चाहिए।

# पाँच क्लेश और उनका स्वरूप

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

**(समाधिपाद में जो योग के विघ्न अथवा चित्त के विक्षेप कहे गये हैं उनके मूल में अविद्यादि पञ्च क्लेश ही रहते हैं अत: योगाभ्याससियों को इन क्लेशों के त्याग के लिए उनका स्वरूप समझलेना चाहिए यही इस लेख का विषय है, जिसे विस्तार से समझाने का प्रयास पूज्य गुरुदेवजी ने किया है।)**

सिद्धयोग के पिछले अङ्क में हमने विस्तार से यह समझाने का प्रयास किया था कि मनुष्य का कर्माशय ही दु:ख मूलक होता है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेश इसमें समाये रहते हैं और इन्हीं के फलस्वरूप जाति आयु और भोग की प्राप्ति मनुष्य को हुआ करती है। यह भी विस्तार से बता ही दिया है कि इन पांच क्लेशों में अविद्या नामक क्लेश सबसे प्रमुख है, अन्य चारों क्लेशों की उत्पत्ति में अविद्या ही कारण रूप से आगे रहा करती है इसलिये योग-साधकों को इसी के विनाश का प्रयत्न करना चाहिए। इसके विनाश के पश्चात् शेष चारों क्लेशों का उन्मूलन भी कठिन नहीं रह जाता।

अविद्या के उन्मूलन से पहले उसका स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। भगवान पतञ्जलि ने इस अविद्या के स्वरूप और गुण धर्म का परिचय इन शब्दों में दिया है—

**अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिर विद्या।**

— साधनपाद ५

अर्थात् अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दु:ख में सुख और अनात्म में आत्म का ज्ञान अविद्या है।

इसी सूत्र पर भगवान व्यासदेव ने अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं—

**अनित्य कार्ये नित्यख्याति: तद्यथा ध्रुवा पृथ्वी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौ: अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमवीभत्से काये, शुचिख्याति:। उक्तश्च 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्नि-स्यन्दन्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचि विदु:''। इत्यशुचौ शुचिख्याति र्दृश्यते। नवेयं शशाङ्कलेखाकम-नीयेयं एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थ प्रत्ययो व्याख्यात:। तथा दु:खे सुखख्याति वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कार कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रम्भित्त्वा नि:सृतेव ज्ञायतो नीलोपल पत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्याज्जीवलोकमा-श्वासयन्ती वेति कस्य केनाभिसम्बन्ध: भवति चैव शुचौ शुचिविपर्य्यासप्रत्बय: इति। दु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्व विवेकिन इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या तथा अनात्मन्यात्म-ख्यातिर्बाह्यप्रकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरि पुरुषोपकारणे व मनस्यनात्मन्यात्म ख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम् व्यक्तम् व्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्द त्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य स सर्वोऽप्रतिबुद्ध: इत्येषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेश सन्तानस्य कर्म्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तु सतत्वं विज्ञेयम् यथा चामित्रोन् मित्रापभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्ध: सपत्न: यथाचाऽगोष्पदं न गोष्पदराभावा न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एवं ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभाव: किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।**

यह हम पहले बता चुके हैं कि क्लेशों की मूल भूता अविद्या है। अविद्या अज्ञान का ही एक दूसरा नाम है। यह अज्ञान मनुष्य को भ्रान्ति में डाले रहता है।

भगवान व्यासदेव ने उदाहरण देकर के अविद्या के स्वरूप को ऊपर समझाया है। यानी सबसे पहले अविद्या का अंग है अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना।

जैसे हम अपने मन में सोचते है यह पृथ्वी हमेशा रहेगी। आकाश हमेशा रहेगा, चन्द्रमा और तारागण-हमेशा रहेंगे, देवी देवता हमेशा रहेंगे। इस के अतिरिक्त और सभी सुखभोग हमारे कायम बने रहेंगे किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। जिस समय सर्वशक्तिमान परमात्मा सृष्टि का सृजन करते हैं उस समय महततत्व से आकाश-आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से अन्न आदि की उत्पत्ति-होकर प्राणी लोग जीव जन्तु प्रगट होते हैं।

जब इस सृष्टि का समाप्ति का समय आएगा- उस समय पृथ्वी जल में, जल अग्नि में और अग्नि वायु में वायु आकाश में और आकाश महत् तत्व में विलय हो जावेगा। सृष्टि की उत्पत्ति होती रहती है और उस की समाप्ति भी होती रहती है। इसी प्रकार से चन्द्रमा और तारागण सृष्टि काल में बन जाते हैं और महाप्रलय के समय सब समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से देवता लोग और उन के लोक भी काल की अवधि में क्यों कि यह सब लोक लोकांतर ही बनते और बिगड़ते हैं, इसलिए इन को ध्रुव नहीं कहा जा सकता। इसी का नाम अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना भी अज्ञान है। यह अविद्या का पहला अंग है और हम सभी की मानस भ्रान्ती है जिससे हम इन न रहने वाली वस्तुओं को भी नित्य समझते रहते हैं।

अविद्या का दूसरा अंग हैं अपवित्र में पवित्रता की अनुभूति। जैसे हमारा शरीर सब प्रकार की गंध से परिपूरित है। इस की उत्पत्ति रज वीर्य आदि से होती हैं। इस में मल मूत्र त्यागने के स्थान गन्दे हैं। रक्त मांस मज्जा आदि भी गन्दे हैं। वात पित्त कफ आदि का रोग यदि मनुष्य के सामने आ जाते हैं तो वह इसे देखना भी नहीं चाहता। क्योंकि यह सभी वस्तुयें गन्दी ही होती हैं। श्री व्यासदेव जी महाराज ने एक कन्या का उदाहरण देकर के यहाँ समझाया है कि किसी रूपवती सुन्दर कन्या को देखकर कामुक व्यक्ति अनेक प्रकार की कल्पनाऐं अपने मन में करता है। यद्यपि शरीर उसका भी हाड़ व चमड़े का ही है किन्तु-कल्पना करने वाला कामुक व्यक्ति उसके रूप का वर्णन करते हुए अपने मुख से कहता हैं कि अरे देखो भाई यह लड़की तो ऐसी दिखाई देती हैं जैसे चन्द्रमा को तोड़ करके बन गई हो या अमृत अथवा मधु से बनी हो। किन्तु यह सब बातें भी उसके अपने मन की भ्रान्ति है। उसका शरीर भी अपवित्र हाड़-मांस चमड़े से अपवित्र है और समय आने पर वही इतना बदल जाएगा जिससे उसका देखना भी किसी को पसन्द नहीं आएगा। इसी का नाम अशुचि में शुचि की अनुभूति है।

अविद्या का तीसरा रूप है दुःखों में सुख की अनुभूति। सारा संसार दुःखमय है भगवान पतञ्जलिदेव ने- **''परिणामताप संस्कारदुःखै-र्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्व विवेकिनः''**— अर्थात् संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो दुःख ग्रस्त न हो। दुःखों का अविद्या की तरह ही चार भागों में बटवारा है जैसे परिणामी दुःख। एक मनुष्य जो भोग भोगता है। भोग काल में वह अत्याधिक सुख का अनुभव करता है किन्तु भोग काल के बाद में उसकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं मन में उत्साह नहीं रहता। अंग-अंग कांपते हैं मंदाग्नि बढ़ जाती है और वह चाहता है कि मैं किसी प्रकार इन्द्रिय जन्य सुखों में न पड़े किन्तु इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल है कि

**यततोयह्यपि कोन्तेय, पुरुश्च विपश्चितः इन्द्रियाणी प्रमाथीनि हरन्ति, प्रसभं मनः।**

अर्थात बुद्धिमान विद्वान योगी लोग अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं किन्त उनका वेग, इतना प्रबल है कि बड़े-बड़े विद्वान पुरुषों के मन को भी खींच ले जाता है। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयम् अपने मुखारविन्द से यह आदेश कहा है:—

**येहि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोगनय एवते। आद्यन्तवन्तः कोन्तेय न तेषु रमते बुधः।**

अर्थात् स्पर्श से पैदा होने वाले जितने भी भोग हैं वे सब दुःखों की जड़ हैं और आदि अन्त वाले हैं अर्थात् न रहने वाले हैं। भगवान के इन वाक्यों को जानकर और समझकर के भी मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा आकर्षित भोगों को भोगता है और बाद में श्री भर्तृहरि के कथनानुसार 'भोगे रोग भयं'' की उक्ति को चरितार्थ करता है। भोगानुरक्त व्यक्ति अपने शरीर में नाना प्रकार के रोगों को पैदा कर लेता है। उसके आमाशय, अग्नाशय, मलाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, वीर्याशय आदि षड़ाशय पूरे-पूरे दूषित हो जाते हैं और भोग के परिणाम स्वरूप अलसर कैंसर आदि जहरीले रोग पैदा हो जाते हैं जो अवश्य ही मनुष्य शरीर को प्राण घातक बन कर ही रहते हैं। इसी का नाम परिणाम दुःखता है।

दूसरा दुःख तापज दुःख है। तापज दुःख का अर्थ है मनुष्य का कर्माशय राग द्वेष से परिपूरित रहता है। मनुष्य किसी व्यक्ति के प्रति राग रखता है। वह चाहता है अमुक व्यक्ति मेरा रहे मेरी बात को माने, वह किसी से न बोले किसी के पास न बैठे, किन्तु वह उसका लक्षीभूत व्यक्ति यदि ऐसा नहीं करता है तो उसके चाहने वाले उस व्यक्ति को घोरतम मानस ताप होता है और वह चाहता है कि इससे तो अच्छा यह है कि मैं मौत के मुख मे चला जाऊँ। इसी प्रकार से अपने मन से जिस व्यक्ति से वह द्वेष करता है और जिससे वह द्वेष करता है वह सुख सम्पत्ति वाला है और उत्तरोत्तर उसकी उन्नति होती रहती है तो द्वेष करने वाला व्यक्ति अपने ही मानस ताप को भोगता रहता है कि मैं इसका कुछ भी न कर सका। इसी को तापज दुःख कहते हैं।

तीसरी प्रकार का दुःख संस्कार जन्य दुःख कहलाता है। किस के मन में घृणा के संस्कार बैठ गए तो उसको घृणित दृश्य याद आते रहते हैं तो वह व्यक्ति सब दिन थूकता ही रहता है। इसीका नाम संस्कार दुःखता है इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक आदि विविध दुःखों को मनुष्य भोगता है और दुःखी रहता है। इनके अतिरिक्त गुणवृत्ति विरोध का पाँचवां दुःख एक ऐसा दुःख है जो सारे संकार में सामन्य रूपेण व्याप्त रहता है। पिता पुत्र का स्वभाव नहीं मिलता, पति पत्नी का स्वभाव नहीं मिलता यह है गुण वृत्तिविरोध। गुरु शिष्यों का परस्पर स्वभाव नहीं मिलता दो मित्रों का स्वभाव नहीं मिलता यह सब गुण वृत्तिविरोध प्राणी मात्र में व्याप्त रहता है। इस प्रकार से यह संसार सारा दुःखमय है। किन्तु मनुष्य अपनी मन्द बुद्धि के कारण इनमें सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार दुःखों में सुखों का अनुभव करना यह अविद्या का तीसरा अङ्ग है।

अविद्या का चौथा अंग है अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना। उदाहरण के तौर पर हम लोग रागानुबद्ध होकर किसी के शरीर से लिपट-चिपटकर कहते हैं कि तू मेरी आत्मा है किसी के बने हुए एक सुन्दर महल को देखकर एक व्यक्ति कहता है कि अरे वाह! वाह! यह महल नहीं यह तो मेरी आत्मा है। वस्तुतः वह महल न तो उस की आत्मा है न प्राण है। इसी का नाम अनात्म वस्तुओं में आत्मा को देखना है। यही अविद्या नाम का पँचक्लेशों में प्रथम क्लेश है। अन्य क्लेशों का मूल यही अविद्या है।

इसके बाद दूसरा क्लेश अस्मिता है।

**अस्मिता क्लेश—** अस्मिता जड़ और चेतन की गांठ को कहते है। इसी का नाम हमारे शास्त्रों में हृदय ग्रन्थि अथवा जड़ और चेतन की गांठ कहा गया है। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने अस्मिता का लक्षण इस प्रकार से लिखा है—

**दृगदर्शनशक्तयोरेकात्मतेवास्मिता।**

अर्थात् दृग शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि और पुरुष का मेल हो जाने पर यह दोनों एक ही स्वरूप के लगने लगते हैं। वही अस्मिता नाम का क्लेश है। पढ़िए भाष्य भगवान व्यासदेव के शब्दों में—

**पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपा-पत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्चयते, भोक्तृभोग्यशक्यारत्यन्त विभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्त बिव सत्यां भोगः कल्पते स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोगइति,**

**तथा चोक्तं ''बुद्धित: परं पुरुषमाकारशीलंविद्याऽऽदिभिर्विक्तम-पश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन' इति।**

अर्थात् पुरुष दृग शक्ति और बुद्धि दर्शन शक्ति है। यह दोनों जब एक रूप हो जाते हैं तभी उसको अस्मिता नाम का क्लेश हो जाता है। पुरुष के बारे में हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

**अच्छेद्योऽमदह्योद्योऽयं अक्लेद्यो अशोच्यय एव च नित्य: सर्व गतंस्थानो रचलोयऽम सनातन:। नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक: न चैनं क्लेद्यन्तापो न शोशयतिमारुत:। अच्छेद्योऽम अक्लेद्योऽम अविकार्योंऽय मुच्यते।**

अर्थात् आत्मा का स्वरूप अक्षेद्य अभेद्य अक्लेद्य एवं अविकारी है। यह शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता। आग से जलाया नहीं जा सकता। हवा से सुखाया नहीं जा सकता सदा सर्वदा अचल एवं स्थिर है। आत्मा के इस स्वरूप के अनुसार आत्मा एक निर्मल ज्योति है। निर्गुण है। इसमे कोई किसी प्रकार के सुख-दु:ख नहीं है किन्तु आत्मा के सामने जब जड़ बुद्धि आयी तो वह आत्मा के प्रकाश को प्राप्त करके चेतन हो उठी। बुद्धि के चेतन हो जाने के बाद बुद्धि ने अपना गुणात्मक रूप आत्मा को दिखलाया तो आत्मा प्रत्यानुपश्य बन गया। दूसरे शब्दों में बौद्धेय ज्ञान को देखने से बुद्धि बोधात्मा हो गया। अब जितने भी हम सुख-दु:ख आदि ज्ञानों को अनुभव करते हैं वह सब के सब बुद्धि के ज्ञान हैं आत्मा के नहीं। इसी का नाम जड़ और चेतन की गांठ है। उपनिषदों मे इस को जड़ और चेतन की गांठ कहा गया है। यही अस्मिता नाम का क्लेश है, जिसके कारण जीवात्मा जन्म और मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

अब तीसरा क्लेश राग है राग का अर्थ है—

**सुखानुशयी राग:**

अर्थात् जिसमें सुख का अनुसरण हो मन सुख का अनुभव करे वह राग कहलाता है।

**सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्व: सुखे तत्साधने वायो गर्द्धस्तृष्णा लोभ: स राग इति।**

अर्थात् सुख को समझने वाला व्यक्ति सुख को याद करता हुआ उस सुख को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन साधनों का अवलम्ब लेता है और उसके प्राप्त करने का लालच मन में बना रहता है, यही राग नाम का क्लेश। यह राग नामक क्लेश सुखानुभूति से होता है किन्तु अन्तिम परिणाम दु:ख ही होता है। जिस वस्तु में हमारी तृष्णा अधिक हुई अर्थात् राग रहा। उस का न मिलना या मिलने पर भी इच्छानुरूप बर्ताव का न होना यह क्लेश का ही कारण है। इस लिए सुख का अनुसरण करने वाला राग क्लेश ही है।

इसके बाद चौथा क्लेश द्वेष है— द्वेष का लक्षण भी भगवान पतञ्जलिदेव ठीक इसी तरह बतला रहे हैं :—

**दु:खानुशी द्वेष:। दु:खाभिज्ञस्य दु:खानुस्मृतिपूर्वो दु:खे तत्साधने वा य: प्रतिरोधो मन्युर्जिघांसा क्रोध: स द्वेष: इति।**

अर्थात् दु:ख को सनझने वाला व्यक्ति उस दु:ख को हटाने के लिए जो भी प्रयत्न करता है— उस प्रयत्न के पूरा न होने पर अपने प्रतिद्वन्दी के प्रति जो भी क्रोध मन में रहता है या उसके प्रति जो जिज्ञासा हनन करने वाली वृत्ति बनी रहती है। इस का नाम द्वेष नामक क्लेश है। जो मनुष्य के जन्म और मरण का कारण बना रहता है।

अब पांचवाँ क्लेश अभिनिवेष है— जिसका लक्षण भगवान पतंञ्जलिदेव ने इस प्रकार लिखा है—

**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश:—**

अर्थात् जो अपनी समान गति से चलता है जिसका प्रभाव पूर्ण विद्वानों से लेकर मूर्खों तक सामान्य रूप से रहता है इस क्लेश का नाम अभिनिवेश क्लेश है-

**सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति, न चाननभूतमरण धर्मकस्यैषा भवत्यात्माशी: एतया च पूर्वजन्मानुभव: प्रतीयते, स चायमभिनिवेश: क्लेश: स्वरसवाही कृमेरषि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेदृष्टयात्मक: पूर्वजन्मानुभूत मरण दु:खम-नुमापयति, यथाचायमत्यन्तमूढेषु दृश्यन्ते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि (1) = विज्ञातपूर्वपिरान्तस्य रूढ़:, कस्मात् समाना हि तयो: कुशलाकुशलयोर्मरण दु:खानुभवादियं वासनेति।**

अर्थात् सभी प्राणियों के मन में यह भावना बनी रहती है कि हमारे साथ दुबारा ऐसा न हो। चींटी से लेकर बड़े -बड़े विद्वानों तक मौत का भय सभी के मन में बना रहा करता है। एक छोटा बच्चा जो अभी नया-नया पैदा हुआ है। और थोड़ी बहुत खाने-पीने की चेतना का ज्ञान उसके मन में पैदा हो गया है। वह रोता हे, पीटता है, शोर मचाता है। दूसरा कोई व्यक्ति हाथ का थप्पड़ उठा करके उसको डराता है और कहता है चुप हो जा नहीं तो मैं तेरे को मार दूँगा। और वह उसके डराने से तत्काल चुप हो जाता है और डर जाता है। और डर कर यह समझ लेता है कि यह कहीं मेरे को मार न दे। इसका अर्थ यह हुआ कि मरने में भी दु:ख होता है। यह बहुत बड़ा दु:ख है और इसका अनुभव उसके मन में हैं। यह मरण भय की शङ्का पुनर्जन्म का भी एक बहुत बड़ा प्रमाण है। जन्म लेने पर उस नए-नए बच्चे को मरण भय का ज्ञान कहाँ से आया। यह तो उसके जन्म-जन्मान्तर में होने वाले मरणों की अनुभूति है जो उसके सामने खड़ी है। यह मरण भय बड़े-बड़े विद्वानों से लेकर साधारण मूर्ख कीट पतंगादि में भी सामान्य रूप से व्याप्त रहता है। इसी को अभिनिवेश नाम का क्लेश कहते हैं यह अज्ञान ग्रन्थि भी जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों से लगी है। इस लेख में जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों के लगे हुए पाँचों क्लेशों का रूप भली प्रकार से स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया गया है।

अत: इन क्लेशों से बचने का प्रयत्न करना प्रत्येक योग-साधक का प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए।

# क्लेशनिवृत्ति का साधन योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

**('वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष' के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निशि-निरन्तर चलता ही रहता है। इसकी निवृत्ति का साधन यदि कोई हो सकता हैं तो वह केवल योग ही हो सकता है। इसी सिद्धांत का समर्थन भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योगचिश्चत्तवृत्ति निरोधः' सूत्र द्वारा किया है।'**

**प्रस्तुत लेख में योग द्वारा सभी क्लेशों का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है तथा किस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटा जा सकता है, इसे सप्रमाण समझाने का प्रयास किया गया है।)**

हम इससे अपने पिछले लेखों में यह भली प्रकार से समझा चुके हैं कि हमारा दृष्टादृष्ट जन्मसम्वेदनीय कर्माशय क्लेशमूलक है। कर्माशय को जन्म देने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश आदि पाँच क्लेश ही हैं। और इन पाँचों क्लशों की जननी अविद्या है जिससे मनुष्य के जन्म-मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। हजारों उपाय करने पर भी जीव इस घोर सङ्कट से निकल नहीं पाता। वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार एवं संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निश निरन्तर चलता रहता है। इसकी निवृत्ति का कोई साधन हो सकता है तो वह केवल मात्र योग ही है, भगवान श्री पतञ्जलि जी देव ने योग की परिभाषा लिखते हुए योग दर्शन के आरम्भ में ही **''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः''** कह करके चित्तवृत्ति निरोध को ही योग बतलाया है। बहुत से लोग चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का रोकना समझ बैठते हैं किन्तु यथार्थ में अर्थ यह नहीं है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है **''चित्तवृत्तिनाम् नितरांरोधः निरोधः।''** अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन ही है। यदि हमारे मन में वृत्तिऐं बनी रहीं तो वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तिएँ यह चक्र बराबर चलता ही रहेगा। हमारा चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है और वह चित्त जैसी-जैसी स्थितियों में होता है वैसे-वैसे वृत्ति संस्कार चक्र को बराबर बनाता चला जाता है। योगश्चित वृत्ति निरोधः, इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए चित्त को पांच भूमिकाओं में बाँट दिया है। इनमें से क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन सभी भूमिकाओं में अपने गुणात्मक विभाग के अनुसार चित्त बटा रहा करता है। कहीं पर सतोगुण की प्रधानता है, कीं पर रजोगुण की प्रधानता है, कहीं पर रजोगुण की प्रधानता है तो कहीं पर तमोगुण की प्रधानता है। यदि कहीं पर सतोगुण चमक उठता है तो कालान्तर में वहीं चित्त समाधि के बल से निरुद्ध हो जाया करता है। मूढ़ावस्था के चित्त में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण और सतोगुण गौड़ हो जाया करते हैं। क्षिप्तावस्था के चित्त में रजोगुण की प्रधानता हो जाती है और तमोगुण सतोगुण गौड़ हो जाते हैं। विक्षिप्ता अवस्था के चित्त में सतोगुण प्रधान हो जाता है और रजोगुण व तमोगुण गौड़ हो जाते हैं। एकाग्रावस्था के चित्त में रजोगुण और तमोगुण न की बराबर रहते हैं और सतोगुण दैदीप्यमान होकर चमक उठता है। इन चारों स्थितियों के अन्दर चित्त जैसी-जैसी भूमिकाओं से निकलता है वैसे-वैसे अविद्याजनित वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता रहता है अर्थात् मूढ़ावस्था का चित्त अंधकार प्रधान मूढ़ वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता है। क्षिप्तावस्था का चित्त रजोगुण प्रधान और विक्षिप्तावस्था का चित्त सतोगुण प्रधान तथा एकाग्रावस्था का चित्त उज्ज्वल सतोगुण प्रधान दैविय वृत्ति संस्कार चक्र का कारण बनता है। केवल मात्र निरोधावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें जाकर के सभी प्रकार के वृत्ति-संस्कार चक्रों का विलय हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलि देव ने योगदर्शन में योगश्चित्तवृत्ति निरोधः इस सूत्र का निर्माण किया। हमारे सभी धर्माचार्यों और व्याख्याताओं ने निरोधः समाधि और समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः कहकर के समाधि को ही माया के बीच से परे निर्बीज का रूपक दिया है। किन्तु भगवान व्यासदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग बतलाया है। उसका कारण केवल मात्र एक ही है कि संप्रज्ञात समाधि में साधक उस रास्ते पर अग्रसर हो जाता है, इसलिए संप्रज्ञात समाधि भी वृत्तियों के उपशमन की एक सीढ़ी है। योग दर्शन के साधनपाद में दृश्य को भोग और अपवर्ग का दाता माना है।

**प्रकाश क्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रिमात्मकंभोगापयर्गार्थं दृश्यम्।**

अर्थात् सतोगुण-रजोगुण और तमोगुणात्मक चित्त एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, एवं आकाश यह पाँचों महाभूत और पंचमहाभूतों की नासिका जिह्वा, आँखें, त्वचा और कर्णेन्द्रिय आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रिय दृश्य इन सब के समुच्चय से बनाता है और वह दृश्य ही एक साधक के लिए भोग और अपवर्ग का दाता हुआ करता है। जो लोग इस दृश्य को पांचों ज्ञानेन्द्रियों के बाहरी भाग से देखते रहते हैं, वे लोग भोगों के भोक्ता बने रहते हैं एवं वृत्ति संस्कार-चक्र को बराबर बनाते रहते हैं। आँख रूप को देखती हैं। रूप को देखकर सुन्दर रूप है तो उसमें आसक्ति पैदा कर लेती हैं कुरुप है तो घृणा पैदा कर लेती हैं। अच्छे और बुरे संस्कार दोनों ही जन्म-मरण के कारण बन जाते हैं। और इसी प्रकार अच्छे पदार्थ ग्रहण करती है तो राग को बढ़ा लेती है और वही रसीले पदार्थ कटु तिक्त व किसी प्रकार

से घृणायुक्त होते हैं तो उन में द्वेष पैदा कर लेती है। इसी प्रकार से त्वचा अच्छे स्पर्शों में सुख एवं बुरे स्पर्शों में दु:ख। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय अच्छे शब्दों के सुनने में राग और कर्ण कटु शब्द सुनने से द्वेष पैदा करके क्लेश मूलक कर्माशय को बना लेती है। इसके अतिरिक्त यही सारे दृश्य जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखे समझे और सुने जाते हैं— इन सब को हम इन्हीं इन्द्रियों के भीतरी भाग से देखते और सुनते हैं तो यही वृत्ति संस्कार चक्र जिसको बाहर से देख सुन करके हमने जन्म-मरण को खरीद लिया और यही सब दृश्य यदि अर्न्तदृष्टि से देख लिया जाय तो यह सम्प्रज्ञात योग का रूप धारण कर लेता है जिसका संकेत अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रकार करते हैं।

**या निशा सर्वं भूतानाम्**

**तस्यां जाग्रर्ति संयमी**

**यस्मा जाग्रति भूतानि**

**सा निशा पश्यतो मुनै:।**

अर्थात् संसार के सब प्राणियों की जो रात है मुनि लोग उसमें जगते रहते हैं और जिसमें मुनि लोग जागते हैं उसमें संसार के सभी लोग सोते रहते हैं एक प्रकार से इन्द्रियों के भीतरी भाग से दृश्य को देखने का अर्थ संप्रज्ञात योग है। अन्तर्दृष्टि से दृश्य के देखने में वृत्तियों का उपशमन होता रहता है। बाह्य दृष्टि से देखने में वृत्ति और संस्कार आशय का उत्तरोत्तर जनन होता रहता है। क्लेश बनते रहते हैं और मनुष्य जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है और यदि साधक अर्न्तजगत में प्रवेश करके अर्न्तजगत का दृष्टा बन जाता है तो वहाँ पर वृत्तियें संस्कारों की जन्मदात्री न बन करके क्षीण होती चली जाती हैं अर्थात् संप्रज्ञात समाधि में क्लेशों का तन्वीकरण हो जाता है और धीरे-धीरे फिर यह अपवर्ग का जनक बन जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव अपने सूत्र में कहते हैं कि—

**ध्यान हेयास्तद वृत्तय:।**

अर्थात यह सारी की सारी वृत्तिऐं ध्यान के द्वारा हटाई जा सकती हैं। ध्यान द्वारा अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा इनका तन्वीकरण हो जाने के बाद मनुष्य मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ जाता है पढ़िए उपरोक्त सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

**क्लेशानां या वृत्तय: स्थूलास्ता: क्रियायोगेन तनूकृता: सत्य: प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावन्सूक्ष्मीकृता यावद् दग्ध बीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मल: पूर्व निर्धूयते पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षा: स्थूला वृत्तय: क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महत्प्रतिपक्षा इति।**

अर्थात् क्लेशों की जो स्थूल वृत्तिया हैं उन का तप स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूप क्रिया योग के द्वारा तन्वीकरण हो जाने पर उन्हें प्रसंख्यान बल से ध्यानयोग के द्वारा हटाया जा सकता है। ध्यानाभ्यास के द्वारा जितना जितना उनका सूक्ष्मीकरण हो जायगा उतनी उतनी वे सब दग्ध-बीज दशा की ओर बढ़ती चल जायेंगी और बाद में समाधि के बल से बिल्कुल निर्बीजता को प्राप्त हो जायेंगी। उदाहरण से इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। एक व्यक्ति बहुत मैले कपड़े को धोकर साफ कर लेता है किन्तु फिर भी यदि उसमें सूक्ष्म मूल अर्थात् धब्बे आदि कुछ रह जाते हैं तो वह सब रंग-काट आदि दूसरे उपायों से साफ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ध्यान योग के द्वारा साधक अपनी वृत्तियों का शमन कर लेता है किन्तु फिर भी यदि अंश मात्र कुछ रह जाता है तो वह प्रसंख्यान बल से दग्धबीज होकर लय हो जाया करता है। उसी के लिए भगवान पतञ्जलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट लिख दिया है कि—

**ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा:**

अर्थात वृत्तियों के सूक्ष्म अवशेष जो रह जाते हैं वह सब लयता के द्वारा समाप्त हो जाते हैं।

**ते पञ्च क्लेशा दग्धबीज कल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलाने सह तेनैवीस्तं गच्छन्ति।**

अर्थात् ध्यानयोग के द्वारा दग्ध बीज के समान हुए वे क्लेश, जिस योगी का चित्त प्रसंख्यान बल से अर्थात् निर्बीज समाधि तक पहुँच जाने के बाद चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। समाधि की नीचे की भूमिकाओं में चित्त थोड़ा-थोड़ा काम करता रहता है, किन्तु जहाँ पर निर्बीज समाधि का उदय हुआ वहाँ पर चित्त का अधिकार भी समाप्त हो जाता है। इससे आगे जाने का तो कोई अधिकार है ही नहीं। उसका परिणाम यह होता है, कि चित्त अपनी मूल प्रकृति में जाकर समाप्त हो जाता है और उसके साथ-साथ क्रिया योग के द्वारा जो चित्त वृत्तिऐं क्षीण हो चुकी थीं वे चित्त वृत्तिऐं भी उस चित्त के साथ ही विलीन हो जाया करती हैं। अत: क्लेशो का समूलोन्मूलन का एक मात्र मूल साधन योग ही है। जिसको पाकर साधक उस परम शान्ति को उपलब्ध करता है, जिस का नाम शाश्वत शान्ति है।